शिक्षक दिवस एवं गणेश चतुर्थी
की हार्दिक शुभकामनाएँ

ISSN 2581- 4133

वर्ष : 17 • अंक : 2 • पृष्ठ : 44 • जयपुर
www.shaikshikmanthan.com

भाद्रपद, विक्रम संवत् 2081
1 सितम्बर 2024 • ₹ 30/-

शैक्षिक मंथन संस्थान
आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः

शैक्षिक मंथन

शैक्षिक क्षेत्र की प्रतिनिधि पत्रिका

शिक्षा और लोक विज्ञान

शैक्षिक मंथन

(द्विभाषी मासिक)

शैक्षिक क्षेत्र की प्रतिनिधि पत्रिका

वर्ष : 17 अंक : 2 1 सितम्बर 2024

भाद्रपद, विक्रम संवत् 2081

परामर्श

डॉ. विमल प्रसाद अग्रवाल
जगदीश प्रसाद सिंघल
शिवानन्द सिन्दनकेरा
जी. लक्ष्मण
महेन्द्र कुमार

❖

सम्पादक

प्रो. शिवशरण कौशिक

❖

संपादक मंडल

प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय
प्रो. राजेश कुमार जांगिड़
प्रो. ओमप्रकाश पारीक
डॉ. एस.पी. सिंह
भरत शर्मा

❖

प्रबन्ध सम्पादक

महेन्द्र कपूर

❖

व्यवस्थापक

बसंत जिंदल

❖

प्रेषण प्रभारी : **नौरंग सहाय 'भारतीय'**

प्रकाशकीय कार्यालय
82, पटेल कॉलोनी, सरदार पटेल मार्ग,
जयपुर (राजस्थान) 302001
दूरभाष : 9414040403

दिल्ली ब्यूरो :
शैक्षिक महासंघ सदन, 606/13,
कृष्णा गली नं.9, मौजपुर, दिल्ली - 110053

E-mail :
shaikshikmanthan@gmail.com
Visit us at :
www.shaikshikmanthan.com

वार्षिक शुल्क ₹ 300/-
दस वर्षीय शुल्क ₹ 2000/-

पृष्ठ संयोजन : सागर कम्प्यूटर, जयपुर

शैक्षिक मंथन मासिक में प्रकाशित सामग्री से संपादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है तथा चित्रों का प्रतीकात्मक प्रयोग किया गया है।

भारतीय ज्ञान परंपरा में लोक विज्ञान

❑ प्रो. सीमा राय

भारतीय लोक विज्ञान की समृद्ध और वैविध्यपूर्ण ज्ञान प्रणाली भारतीय ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश पुंज है जो भारतीय समाज के विकास के विभिन्न पहलुओं से हमें परिचित कराती है। यह ज्ञान न केवल पारंपरिक जीवनशैली और भारतीय संस्कृति का अटूट हिस्सा है, बल्कि यह आधुनिक विज्ञान और तकनीक के साथ सहज समन्वय स्थापित कर सकता है। लोक विज्ञान के संरक्षण और संवर्धन, इसके वर्तमान उपयोग और उसके स्पष्ट मूल्यांकन के साथ हम आगे बढ़ सकते हैं।

4

अनुक्रम

3.	संपादकीय	– प्रो. शिवशरण कौशिक
6.	भारत में लोक विज्ञान का विकास	– डॉ. धीरज शर्मा
11.	भारत में लोक विज्ञान की समृद्ध परंपरा और ...	– डॉ. गौरी त्रिपाठी
14.	लोक विज्ञान में कृषि...	– लोहित राम
17.	शिक्षा में लोक विज्ञान की अवधारणा	– डॉ. राम बाबू
20.	भारत में वृक्षों का लोक विज्ञान	– डॉ. प्रतिमा मोहन कौशिक
23.	राजस्थानी के श्रमप्रधान लोकगीतों में विज्ञान	– डॉ. गजादान चारण
30.	लोक विज्ञान और स्वास्थ्य	– स्वाती
32.	भारत में लोक विज्ञान का विकास	– डॉ. कृष्ण कु. जायसवाल
34.	लोक-साहित्य में पर्यावरण चेतना	– गोवर्धन यादव
41.	श्रेष्ठ शिष्य ही गुरु-दृष्टि का विस्तार	– प्रकाश वया

National Education Policy (NEP 2020) and Experiential Learning

❑ **Dr. Dinesh Kumar Gupta**

All traditional toys in India are very closely associated with the concepts of Science and Technology and have great potential as educational aids in classroom teaching. Toys use more than one scientific principle and the classroom is the best place to understand these through discussions initiated by the teacher. Since paper is an inexpensive, easily available and a safe material to play with, experiments have been conducted to give the joy of learning to a child through creative use of waste paper. Children may also be motivated to create toys using clay, cloth, wood and natural fibre.

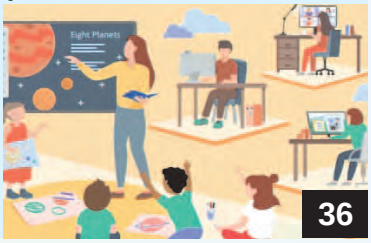

36

ISSN 2581-4133

संपादकीय

प्रो. शिवशरण कौशिक
संपादक

मूलतः लोक विज्ञान, लोक कलाएँ, लोक साहित्य, लोक गीत, लोक कथाएँ, लोक पर्व, लोक नाट्य, लोकोत्सव, लोक आराधना, लोकवार्ता आदि समस्त विधाएँ तथा लोक पद्धतियाँ लोक संस्कृति के ही रूप हैं। लोक जीवन में व्याप्त सभी दैनिक क्रियाएँ हमारी प्राचीन परम्पराओं, प्रथाओं तथा अभ्यासों के माध्यम से प्रकट होती ही हैं। इन्हीं दैनिक उपयोग की वस्तुओं तथा प्रक्रियाओं को हम सहज जीवन में अभिव्यक्त पाते हैं। किन्तु आज जब आधुनिक तकनीकी तथा वैश्वीकरण के प्रभाव से लोक विज्ञान को भी बाजार की वस्तु बनाया जा रहा है, अथवा तेजी से बदला जा रहा है। ऐसे में जन जीवन के विज्ञान बोध तथा लोक के प्रति आस्था, सम्मान, सेवा और चिन्ता समग्र रूप से दिखाई देती है।

वस्तुतः लोक संस्कृति मनुष्य को सुसंस्कृत बनाने की सतत प्रक्रिया की महत्त्वपूर्ण अवस्था है। लोक संस्कृति और लोक विज्ञान के माध्यम से मनुष्य अपने जीवन के सार तत्त्व को अर्थवान बनाता है। लोक विज्ञान ही वह दृष्टिकोण है जिसके माध्यम से श्रमशील मनुष्य कार्य करते हुए अथवा कार्य से अवकाश के क्षणों का सार्थक उपयोग करता है। इससे मनुष्य का अपने परिवेश से गहरा जुड़ाव तथा आत्मीय संबंध बनता है।

कहा जा रहा है कि वैश्वीकरण की परिघटना ने दुनिया को 'विश्व ग्राम' में रूपान्तरित कर दिया है। 'पापुलर कल्चर' की धूम में स्थानीय संस्कृतियों के लिए कितना स्थान बचेगा, यह चिन्ता का विषय है। लोक विज्ञान के विभिन्न अभ्यास और पद्धतियाँ लोगों की स्मृति में संचित रहते हैं। जीवन की आपाधापी में एकाकी पड़ता मनुष्य स्मृति हीन हो रहा है। वह धीरे-धीरे अपनी लोक विज्ञानाधारित प्रवृत्ति को भूलकर बाजार का महत्त्वहीन हिस्सा बन रहा है। असल में भूमंडलीकरण सांस्कृतिक वैविध्य विरोधी है उसके चलते हमारी पारंपरिक लोक संस्कृति का सकारात्मक पक्ष लगातार दुर्बल होता जा रहा है। हाँ यह अवश्य है कि लोक जीवन के विभिन्न आयामों के समक्ष जो वर्तमान की चुनौतियाँ हैं, उन्हें ध्यान में रखते हुए हमें सथानीय उत्पाद, स्थनीय कारखानों, स्थानीय कृषि, स्थानीय वानिकी, स्थानीय लोककलाओं का परिमार्जन करते हुए उन्हें अधुनातन बनाने की दिशा में कार्य करना होगा। क्योंकि समूचे भारत के सांस्कृतिक स्पंदन का मूल स्रोत 'लोक' ही रहा है। घरेलू सुविधा के उपकरणों, घर बनाने की सामग्री, कारीगरी, कृषि, पेड़-पौधों, वनों-उद्यानों, कलाभिव्यक्ति के विभिन्न माध्यमों, उत्सव-त्योहारों, मेलों-आयोजनों आदि में लोक विज्ञान का अत्यधिक उपयोग देखने को मिलता ही है। भारत की घरेलू अभियान्त्रिकी तथा घरेलू चिकित्सा, जल, थल व नभ में की जाने वाली मानवीय गतिविधियों का आरंभिक आधार लोक विज्ञान ही रहा है।

उत्पादन के साधनों या उत्पादन के उपकरणों का स्थान आज मशीनों ने ले लिया है जिससे हमारी 'सामूहिकता' पर प्रतिकूल असर पड़ा है। जबकि भारतीय समाज इस सामूहिकता के कारण ही प्रकृति के प्रति संवेदनशील रहा है। इसने पूरे लोक के साथ तादात्म्य स्थापित किया है, इसीलिए लोकमंगल की कामना में ही समस्त लोक समाहित है।

हमारे लोकगीत, लोककथाएँ, लोकनृत्य तथा लोकविज्ञान श्रमशील समाज के संघर्ष की, उसके उत्साह की गाथाएँ हैं। श्रम के बीच से ही निस्सृत हुए हैं हमारे लोकगीत। लोककलाओं के विभिन्न रूपों में हस्तकला, शिल्पकला, भित्तिचित्र, वस्त्र उद्योग, आभूषण, रंगाई-छपाई आदि के विज्ञान का विस्तार लोक जीवन में तो मिलता ही है, उस पर प्रचुर लोकसाहित्य भी उपलब्ध है। हमारे गाँवों, चौपालों, गलियों, खेत-खलिहानों, चूल्हा-चौकों, झोपड़ियों में कही हुई गल्पें लोक साहित्य हो गई जिनमें जीवन का विज्ञान समाहित है। जीवनानुभवों का प्रकटीकरण अनेक मुहावरों, कहावतों, पहेलियों, गीतों, वीर-गाथाओं आख्यानों और लोक-कथाओं में भी हुआ है। पशु-पक्षियों पर केन्द्रित अनेक कथाएँ 'कथा सरित्सागर', हितोपदेश, पंचतंत्र, 'जातक' आदि में संकलित हैं।

भारत ग्राम-प्रधान तथा श्रम-प्रधान देश रहा है। यहाँ के निवासियों ने अपनी समस्याओं को प्रकृति के सम्मुख निस्संकोच भाव से रखा, तथा प्रकृति ने भी हमें मुक्तभाव से जीवन रक्षा के उपक्रम उपलब्ध कराये हैं। इसलिए विज्ञान का जीवनोपयोगी पक्ष लोक की चेतना में स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहता ही है। यही हमारी लोक विज्ञान की श्रुति परंपरा भी है।

शैक्षिक मंथन का यह अंक सामान्य जन जीवन के विज्ञान बोध तथा लोक विज्ञान को समर्पित है जिसमें जीवन के वैविध्य को विभिन्न उपादानों के माध्यम से समझा-परखा जाए। आशा है, यह अंक भारत के लोक-विज्ञान-दर्शन एवं उसके जीवन में उपयोग का साक्षात्कार आपको करवा सकेगा। इस अंक के माध्यम से भारतीय ज्ञान-परम्परा में उपस्थित लोक विज्ञान तथा उसके विकास के विभिन्न चरणों पर चर्चा की गई है। कुछ लेख शिक्षक-विद्यार्थियों के लिए लोक विज्ञान के अनुभवजन्य व कौशलाधारित ज्ञान की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। ❑

सम्माननीय पाठकगण !
शैक्षिक मंथन की दस वर्षीय सदस्यता का अभियान चल रहा है। आपके प्रयास से भी नवीन सदस्य बनाने का आग्रह है।

भारतीय लोक विज्ञान की समृद्ध और वैविध्यपूर्ण ज्ञान प्रणाली भारतीय ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश पुंज है जो भारतीय समाज के विकास के विभिन्न पहलुओं से हमें परिचित कराती है। यह ज्ञान न केवल पारंपरिक जीवनशैली और भारतीय संस्कृति का अटूट हिस्सा है, बल्कि यह आधुनिक विज्ञान और तकनीक के साथ सहज समन्वय स्थापित कर सकता है। लोक विज्ञान के संरक्षण और संवर्धन, इसके वर्तमान उपयोग और उसके स्पष्ट मूल्यांकन के साथ हम आगे बढ़ सकते हैं।

भारतीय ज्ञान परंपरा में लोक विज्ञान

प्रो. सीमा राय
विभागाध्यक्ष,जीव विज्ञान विभाग, अधिष्ठाता, जीवन विज्ञान अध्ययनशाला
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर, छत्तीसगढ़

भारतीय ज्ञान परंपरा एक ऐसा संप्रत्यय है जिसका विस्तार असीमित दिशाओं और अपरिमित क्षेत्रों में हुआ है। हजारों वर्षों के ज्ञान-विज्ञान की थाती का समुच्चय ही भारतीय ज्ञान परंपरा का आधार स्तंभ है। श्रीमद्भागवत में एक जगह मिलता है - 'सपत्नमस्ति नवेदी बन्धू स्वधर्मः स्थिता मम। सन्मार्गेण गत्वा पथ्यमि दृष्ट्वा तव सन्निधौ॥' अर्थात् हे प्रभु मैं आपकी उपस्थिति से प्रेरित होकर सच्चे मार्ग पर चलने की कोशिश कर रहा हूँ और आपके साथ रहते हुए अपने धर्म का पालन कर रहा हूँ। यहाँ इस विषय को भी समझना बहुत आवश्यक है कि भरतीय ज्ञान परंपरा का स्वाभाविक रूप क्या है और आज के संदर्भ में हम भारतीय चिंतन के किस-किस पक्ष को ज्ञान परंपरा में वास्तविक आधार के रूप में अभिचिह्नित कर रहे हैं। इस संदर्भ में हमे सबसे पहले ज्ञान के जिस पक्ष को समझना है वह धर्म की प्रमुख मान्यताएँ और अवधारणाएँ हैं। भारतीय ज्ञान परंपरा का विकास भारत की आध्यात्मिक और धार्मिक पद्धतियों के सापेक्ष हुआ है। इसलिए लोक विज्ञान का स्वरूप और भारतीय समाज की समझ एकरैखिक या एकांगी नहीं हो पायी है।

लोक विज्ञान सदियों पुरानी चिंतन पद्धति है। लोक विज्ञान का भारतीय ज्ञान परंपरा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। लोक विज्ञान का अर्थ है कि लोक समुदायों द्वारा अनुभव, प्रायोगिकता और पारंपरिक ज्ञान के आधार पर प्रमाणित तौर पर विकसित की गई अनेकानेक अवधारणाओं और पद्धतियों का निरूपण। यह ज्ञान आमतौर पर पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचरित होता है और इसमें शास्त्रीयता, प्रकृति, स्वास्थ्य, कृषि, वास्तुकला और सामाजिक जीवन के अनेकानेक पहलुओं की समझ का व्यावहारिक विकास होता है। आज पूरी दुनिया जिस तरह के पर्यावरण संकट से गुजर रही है और आने वाले समय में इसकी जैसी भयावहता दिखाई दे रही है वह सहज स्वीकार करने योग्य नहीं है। भारतीय समाज बहुत पहले से पर्यावरण पूजक रहा है। यह मत जितना सहज भारतीय ज्ञान परंपरा का उत्थान है उतना ही स्वीकार्य लोक विज्ञान भी है। विष्णुपुराण भारतीय पुराणों में एक प्रमुख ग्रंथ है, जिसमें प्रकृति और पर्यावरण के महत्त्व पर विशेष चर्चा मिलती है जो इस संदर्भ में उद्धृत करने योग्य है। श्लोक है 'अर्थं दधाति यस्तु यस्तं ज्ञायते सदा। सपां नायति नित्यं यथा हेम इव प्रसंयम्।' जिसका अर्थ है कि जो व्यक्ति अर्थ (वृक्ष) को स्वीकार करता है और ज्ञायते (समझता) मतलब उसकी महत्ता को समझता है, वह सदा प्रकृति और पर्यावरण की रक्षा करता है, ठीक वैसे ही जैसे सोना (हेम) सदा अपने स्थान पर ही रहता है। ऐसी वैचारिक गूढ़ता आज की

 ISSN 2581-4133

पीढ़ी के लिए न सिर्फ मार्गदर्शन करने वाली है बल्कि भारतीय विज्ञान और परंपरागत जागरूकता का प्रमाण भी है। अपने समाज में नदी से जल भरने के संदर्भ में भी नदी से प्रार्थना करने, उसे प्रणाम करने और जल लेते हुए उसके प्रति कृतज्ञता का भाव प्रदर्शित करने जैसी पद्धति अकारण नहीं थी। तुलसी का दो पत्ता बिना प्रार्थना के तोड़ना भी सामाजिक मान्यताओं के विपरीत था। बाग-बगीचा लगाना और फल आने पर उसकी पूजा करवाकर उसमें देवत्व भाव की स्थापना करना, उसी प्रकार कुआँ, पोखर और अन्य जलाशय आदि को खुदवाना और जल की परिपूर्णता होने पर उसका शास्त्रीय विधान से पूजा करवाना उसके बाद ही उसके जल को ग्रहण करने की परंपरा सदियों पुरानी है। इसका एक ही आशय है कि वह पानी अब साधारण पानी नहीं बल्कि जीवनदाता जल बन गया है इसलिए उसका दोहन नहीं करना है। उसका सम्मान करना है। लोक विज्ञान की ऐसी अवधारणा विश्व में शायद ही कहीं होगी।

हम सभी इस बात से भलीभाँति परिचित हैं कि हमारा समाज प्रकृति पूजक है। प्रकृति का मतलब सिर्फ पेड़ पौधों से नहीं है। प्रकृति का मतलब पृथ्वी पर रहने वाले चराचर जगत के अनेकानेक जीवों से है जो पृथ्वी पर जन्म लेते हैं और जीते हैं। अहिंसा हमारी मान्यताओं की नींव है। आज अनेक तरह के जानवरों के विलुप्त होने की खबरें आती हैं जबकि भारत में पाए जाने वाले अनेकानेक पशु पक्षियों को भी हमारी आध्यात्मिक मान्यताओं में देवताओं से जोड़ा गया है जिससे पूरा समाज कभी भी उनका एकबारगी दुश्मन न बन जाय। अर्थात् यदि उन्हें कुछ लोग क्षति पहुँचाना भी चाहें तो उन्हीं के बीच से उनके रक्षक भी खड़े हो जाए जिससे पृथ्वी पर जीवों की समानता बनी रहे।

लोक विज्ञान का दायरा विस्तृत है। भारतीय ज्ञान परंपरा में कुछ विशेषीकृत और स्वायत्त क्षेत्रों की बात की जाय तो भारतीय ज्ञान परंपरा में वेद, पुराण, उपनिषद, महाकाव्य आदि, विज्ञान के क्षेत्र में गणित, खगोलशास्त्र आदि, चिकित्सा के क्षेत्र में आयुर्वेद, योग और ध्यान आदि, कला और संस्कृति के क्षेत्र में शास्त्रीय संगीत, शास्त्रीय नृत्य, लोक नृत्य, वास्तुकला और चित्रकला आदि तथा सामाजिक और दार्शनिक क्षेत्र में धर्म, समाज, नैतिकता, मानव जीवन का मूल उद्देश्य आदि के अतिरिक्त समकालीन संदर्भों में भी भारतीय ज्ञान परंपरा की पहचान और प्रतिष्ठा को देखा समझा जा सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में यहाँ दो क्षेत्रों का उदाहरण रूप में उल्लेख किया जा सकता है। इसमें पहला कृषि और खाद्य सामग्री का उत्पादन है। भारतीय लोक विज्ञान में कृषि तकनीक और खाद्य उत्पादन और उसके संरक्षण की अनेक विधियाँ उपलब्ध हैं और इसका ज्ञान भारत के हर उस व्यक्ति के पास रहा है जो इस क्षेत्र से जुड़ा रहा है। ग्रामीण समुदायों ने वर्षों के अनुभव के आधार पर भूमि की उर्वरता बढ़ाने के संसाधनों का विकास किया, फसलों की देखभाल की अनेक पद्धतियों का आविष्कार किया। जल प्रबंधन के भी आवश्यकतानुसार अनेक पारंपरिक तरीके विकसित किए गए हैं। उदाहरण के तौर पर हम खेतों में बदल-बदल कर विविध फसलों की खेती के माध्यम से मिट्टी की उर्वरता को कैसे बढ़ाया जा सकता है इसका विकास हुआ। साथ ही, परंपरागत बीजों की विभिन्न किस्मों का संरक्षण और उपयोग सुरक्षित तरीके से कैसे हो इसके उदाहरण भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी मिल जायेंगे।

इसी प्रकार चिकित्सा और औषधि के क्षेत्र में भी भारतीय लोक विज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों जैसे आयुर्वेद, यूनानी चिकित्सा, और स्थानीय औषधीय ज्ञान के माध्यम से लोग स्वास्थ्य समस्याओं का सहज समाधान करते रहे हैं। ग्रामीण इलाकों में, स्थानीय जड़ी-बूटियों और औषधियों का उपयोग आम बीमारियों के इलाज के लिए सदियों से किया जाता है। इन पद्धतियों में औषधीय पौधों के लाभकारी गुणों के बारे में सामान्य लोगों को भी व्यापक ज्ञान होता है, जो विभिन्न रोगों का उपचार बड़े सहज तरीके से घरेलू चीजों से करते रहे हैं। वैसे तो चरक संहिता को चिकित्सा का सर्वमान्य ग्रंथ माना गया है उसी प्रकार महर्षि पतंजलि को योग का सर्वमान्य आचार्य माना गया है लेकिन इसके अतिरिक्त भी भारतीय ज्ञान परंपरा में अनेकानेक जगहों पर चिकित्सा, योग और ध्यान से संबंधित प्रयोग और निर्देश मिलते हैं। यथा, भागवत में एक श्लोक आता है जो इस प्रकार है, 'वयमुपलभामो हि जीवितं कर्तुं बलम्। न सूक्ष्मं प्रतिषेध्यन्ते विज्ञानस्य तथोक्तम्॥ अर्थात् हम जीवन का अनुभव करने में सक्षम हैं, और इसके लिए बल की आवश्यकता होती है। सूक्ष्म (तत्त्व रूप) को ज्ञान की प्रक्रिया में अवरोधित नहीं किया जा सकता। इतना सूक्ष्म ज्ञान हमारी परंपरा में विद्यमान रहा है।

निष्कर्ष : भारतीय लोक विज्ञान की समृद्ध और वैविध्यपूर्ण ज्ञान प्रणाली भारतीय ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश पुंज है जो भारतीय समाज के विकास के विभिन्न पहलुओं से हमें परिचित कराती है। यह ज्ञान न केवल पारंपरिक जीवनशैली और भारतीय संस्कृति का अटूट हिस्सा है, बल्कि यह आधुनिक विज्ञान और तकनीक के साथ सहज समन्वय स्थापित कर सकता है। लोक विज्ञान के संरक्षण और संवर्धन, इसके वर्तमान उपयोग और उसके स्पष्ट मूल्यांकन के साथ हम आगे बढ़ सकते हैं। भारतीय ज्ञान परंपरा की स्थिरता और समृद्धि को बनाए रखने के लिए हमें अपनी परंपरागत ज्ञान निधि का सम्मान करना सीखना होगा और इसे अगली पीढ़ी में उतारना होगा तभी वास्तविक उन्नत विज्ञान का विकास संभव है। ❑

भारत में लोक विज्ञान का विकास

डॉ. धीरज शर्मा
इतिहास विभागाध्यक्ष,
राजकीय महाविद्यालय
सुमेरपुर, पाली, राजस्थान

वह प्रचलित विज्ञान और तकनीकी ज्ञान, जो औपचारिक शिक्षा के माध्यम से नहीं, बल्कि परंपरागत ज्ञान, अनुभवों और सामाजिक धारणाओं से प्राप्त होता है। इसका विकास समय के साथ होता है और यह समाज की जरूरतों, जीवनशैली और सांस्कृतिक परिवेश के अनुरूप ढलता है। लोक विज्ञान उन पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों, मिथकों, लोक गीतों, कहावतों और रीति-रिवाजों का अध्ययन है जो किसी समाज या समुदाय में पीढ़ी दर पीढ़ी प्रचलित होते रहे हैं। यह उन वाचिक और सांस्कृतिक परंपराओं का समावेश करता है जिन्हें लोग अनौपचारिक रूप से साझा और संरक्षित करते है लोक विज्ञान में लोककथाओं, लोक नृत्यों, लोक संगीत, लोक चिकित्सा और अन्य सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों का भी अध्ययन किया जाता है। इसका उद्देश्य यह समझना है कि ये कहानियां, परंपराएं और चिकित्सा पद्धतियां किस तरह से समाज की सांस्कृतिक और वैज्ञानिक पहचान को आकार देती हैं और कैसे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित होती हैं। लोक विज्ञान अनुभव का विज्ञान है जो हमें हमारे पूर्वजों से काल दर काल मिलता रहा और इस विज्ञान में नवोन्मेष होते रहे जिससे आज हम वैज्ञानिक उन्नति के स्तर को प्राप्त कर पाए हैं। जीवन में विज्ञान कोई नई चीज़ नहीं है। विज्ञान तब से है, जब से सृष्टि का निर्माण हुआ। बस उसे जीवन में पहचानना जरूरी है। लोक ने जीवन में विज्ञान को कई रूपों में पहचाना है। विज्ञान ने जीवन को गति प्रदान की है, जिसके कारण जीवन ऊर्ध्वगामी और सुन्दर बना है। जीवन में विज्ञान की मूल्यवत्ता इससे बढ़कर और कोई नहीं हो सकती।

लोक विज्ञान का विकास

लोक विज्ञान का विकास एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है जो समाज के विभिन्न वर्गों और परंपराओं में विज्ञान के प्रसार और उसे समझने के तरीकों को दर्शाता है। लोक विज्ञान का अर्थ है जनसाधारण के बीच प्रचलित विज्ञान और तकनीकी ज्ञान, जो औपचारिक शिक्षा के माध्यम से नहीं, बल्कि परंपरागत ज्ञान, अनुभवों और सामाजिक धारणाओं से प्राप्त होता है। इसका विकास समय के साथ होता है और यह समाज की जरूरतों, जीवनशैली और सांस्कृतिक परिवेश के अनुरूप ढलता है।

लोक विज्ञान के विकास के प्रमुख पहलू

परंपरागत ज्ञान – पुराने समय से लोग अपने अनुभवों के आधार पर प्राकृतिक घटनाओं और प्रक्रियाओं को समझते और उनका उपयोग करते आए हैं। जैसे कृषि, चिकित्सा और निर्माण तकनीकें लोक विज्ञान का हिस्सा हैं।

समाज और संस्कृति का लोक विज्ञान पर प्रभाव – प्रत्येक समाज और संस्कृति का अपना विशेष ज्ञान होता है जो उनके दैनिक जीवन में उपयोगी होता है। जैसे आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली और पारंपरिक खेती के तरीकों में लोक विज्ञान

 ISSN 2581-4133

की झलक मिलती है। लोक विज्ञान ने अपनी संस्कृति को पुष्ट किया है और सभ्यताओं को क्रमिक रूप से विकास की ओर उन्मुख किया है।

आधुनिक विज्ञान के साथ लोक विज्ञान का सामंजस्य – लोक विज्ञान का विकास आधुनिक विज्ञान के साथ भी होता है। जहाँ एक ओर आधुनिक विज्ञान नई तकनीकें और दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, वहीं दूसरी ओर लोक विज्ञान उसे स्थानीय जरूरतों और स्थितियों के अनुसार ढालता है।

वर्तमान युग वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो मानव जीवन के शुरुआती चरण में पत्थर के औजारों से शुरू होकर धातुओं के विभिन्न कार्यक्रमों को पार करते हुए सूचना प्रौद्योगिकी तक पहुँच चुका है विकास के इन चरणों में कहीं न कहीं इन आनुभाविक पारंपरिक ज्ञान का हस्तांतरण होता आया है। शस्त्र निर्माण, बारूद निर्माण, धातु निष्कर्षण, परिशोधन और उनसे निर्मित उत्पाद चक्र से आज भी हम लाभान्वित होते आए हैं। वर्तमान परिदृश्य में देखा जाए तो मौसमी घटनाएँ, प्राकृतिक आपदाओं की जानकारी जिस तरह हमें उपग्रहों से मिल रही है पुरातन काल में इनकी जानकारी उन्हें अपने अनुभवों से मिलती थी। लोक विज्ञान की जो अनुभव की परंपराएं थी उनसे वो अपनी दिनचर्या का निर्धारण करते थे – सूर्योदय से सूर्यास्त तक। प्राकृतिक आपदाओं में क्षेत्रीय पलायन से लेकर पुनर्वास तक। प्राचीन समय में प्राकृतिक रसायन विधियों के माध्यम से औषधियों का निर्माण किया जाता था इन्हीं का अनुसरण करते हुए वर्तमान में विभिन्न रोग कारकों की ड्रग्स का फार्मूला तय किया जाता है।

लोक विज्ञान में शिक्षा का प्रसार – लोक विज्ञान के विकास में शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान होता है। शिक्षा केवल पुस्तकों तक सीमित नहीं थी; अनुभवजन्य शिक्षा का महत्त्व था। उदाहरण के लिए, कृषि, बुनाई, मिट्टी के बर्तन बनाना और अन्य हस्तशिल्प में लोक ज्ञान को अनुभव और अभ्यास के माध्यम से संचारित किया जाता था। यह व्यावहारिक ज्ञान पीढ़ियों के अनुभव से समृद्ध होता गया। समय के साथ, शिक्षा का विकास हुआ और लोक विज्ञान के ज्ञान को लिखित रूप में संरक्षित किया जाने लगा। प्राचीन ग्रंथ, जैसे वेद, पुराण और आयुर्वेदिक साहित्य, लोक विज्ञान के ज्ञान को सहेजने में सहायक रहे। ये ग्रंथ शैक्षिक संस्थानों और गुरुकुलों में पढ़ाए जाते थे, जिससे लोक विज्ञान का प्रसार हुआ। शिक्षा के माध्यम से वैज्ञानिक दृष्टिकोण और जानकारी का प्रसार होता है, जिससे लोग अपनी परंपरागत धारणाओं में सुधार कर सकते हैं। शिक्षा ने लोक विज्ञान के ज्ञान को संरक्षित करने, संचारित करने और विकसित करने में अहम भूमिका निभाई है। प्राचीन शिक्षा पद्धति मौखिक थी जो आधुनिक युग तक आते-आते डिजिटल हो गई। इस ऐतिहासिक कालक्रम में कही मनीषियों ने अपने ज्ञान को वेदों, उपनिषदों और ग्रंथों के माध्यम से लेखबंध कर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित किया है। गुरुकुल प्रणाली में शिष्य आचार्यों के सान्निध्य में शिक्षा प्राप्त करते थे, जहाँ वे विभिन्न प्रकार के लोक विज्ञान, जैसे आयुर्वेद, ज्योतिष, संगीत और कला के रहस्यों को सीखते थे। इस शिक्षा प्रणाली ने प्राचीन ज्ञान को संरक्षित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

लोक विज्ञान में अनुसंधान और नवाचार – लोक विज्ञान में निरंतर नवाचार और अनुसंधान की संभावना होती है। लोग अपने अनुभवों और परिस्थितियों के आधार पर नए तरीकों और उपायों का विकास करते हैं, जो उनकी समस्याओं का समाधान कर सकें। शिक्षा ने लोक विज्ञान के क्षेत्र में शोध और नवाचार को भी बढ़ावा दिया। वैज्ञानिक अनुसंधान और शैक्षिक परियोजनाओं के माध्यम से पारंपरिक ज्ञान का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पुनर्मूल्यांकन और पुनर्विकास हुआ। आधुनिक शिक्षा प्रणाली ने पारंपरिक लोक विज्ञान को भी अपने पाठ्यक्रमों में शामिल किया है। कृषि, पर्यावरण अध्ययन और पारंपरिक चिकित्सा जैसे विषयों में लोक विज्ञान के सिद्धांत और प्रथाएँ पढ़ाई जाने लगीं।

लोक विज्ञान का विकास समाज में विज्ञान के लोकतांत्रीकरण को भी दर्शाता

है, जहाँ ज्ञान का प्रसार केवल विशेषज्ञों तक सीमित नहीं रहता, बल्कि आम जन भी उसमें भागीदार बनते हैं।

लोक विज्ञान का प्राचीन स्वरूप –

लोक विज्ञान का प्राचीन स्वरूप समाज के पारंपरिक ज्ञान, अनुभवों और सांस्कृतिक धारणाओं पर आधारित था। इस ज्ञान का उद्‌गम वैज्ञानिक पद्धतियों की बजाय स्थानीय अनुभवों, परंपराओं और प्राकृतिक अवलोकनों से होता था।

लोक विज्ञान के प्राचीन स्वरूप की विशेषताएँ

परंपरागत चिकित्सा प्रणाली एवं आयुर्वेद/चिकित्सा – प्राचीन समय में लोगों ने प्राकृतिक साधनों से रोगों का उपचार करना सीखा। जड़ी-बूटियों, पेड़-पौधों और खनिज पदार्थों का उपयोग करके दवाईयाँ बनाई जाती थीं। उदाहरण के लिए, आयुर्वेदिक चिकित्सा और चीनी हर्बल चिकित्सा जैसी प्रणालियाँ लोक विज्ञान का हिस्सा थीं। परंपरागत चिकित्सा पद्धति का विकास लोक विज्ञान में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह पद्धति लोक ज्ञान, परंपराओं और अनुभवों पर आधारित होती है जो पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक रूप से संचारित होती हैं।

भारत में आयुर्वेद जैसी परंपरागत चिकित्सा प्रणालियाँ प्राचीन काल से चली आ रही हैं। ये चिकित्सा पद्धतियाँ स्थानीय रूप से उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों जैसे जड़ी-बूटियों, पौधों और खनिजों का उपयोग करती हैं। परंपरागत चिकित्सा पद्धति में स्थानीय जड़ी-बूटियों और अन्य प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग होता है, जो सरल और सुलभ होते हैं। परंपरागत चिकित्सा पद्धति समाज की सांस्कृतिक धरोहर का हिस्सा होती है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती हैं यह पद्धति प्रकृति के साथ सामंजस्य बिठाकर जीवन जीने पर जोर देती है, जिसमें शरीर, मन और आत्मा का संतुलन शामिल है। परंपरागत चिकित्सा पद्धति में रोग की रोकथाम और उपचार के साथ-साथ समग्र स्वास्थ्य पर ध्यान दिया जाता है, जो इसे समग्र रूप से हितकारी बनाता है।

यह पद्धति सिर्फ शारीरिक उपचार पर नहीं, बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य पर भी ध्यान केंद्रित करती है। इन सभी कारणों से, लोक विज्ञान में परंपरागत चिकित्सा पद्धति का विकास हुआ और यह आज भी कई समुदायों में प्रमुख रूप से उपयोग की जाती हैं मानव सभ्यता के साथ ही लोक विज्ञान में पराम्परागत चिकित्सा पद्धतियों ने जन्म लिया जैसे कर्णभेदन संस्कार हो, उत्तर दिशा की ओर सिर करके सोने की मनाही हो, सैंधव सभ्यता में शल्य क्रिया/ मस्तिष्क शोधन क्रिया हो, वैदिक अनुष्ठानों के माध्यम से एंटी रेडिएशन वातावरण बनाना हो, महाभारत में पुष्पक विमान का प्रयोग हो, इनके साथ ही अनेक आयुर्वेदाचार्य एवं योगाचार्य हुए जिन्होंने लोक विज्ञान के क्षेत्र में अपनी महती भूमिका निभाई उनमें धनवंतरि, चरक, सुश्रुत, वराहमिहिर, पतंजलि, वागभट्ट, कपिल मुनि, महर्षि गौतम, पाणिनी, क्षपणक, चक्रपाणि मिश्र, जगदीश चन्द्र बसु। धन्वंतरि को आयुर्वेद का पिता माना जाता है। इन्होंने जड़ी-बूटियों के माध्यम से प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति को एक नया आयाम दिया जो वर्तमान समय की मांग है। योगी पतंजलि ने अपने ग्रंथ योगसूत्र में अष्टांगयोग का सिद्धांत दिया जो मानव को शारीरिक से आध्यात्मिक उन्नति तक ले जाता है। चरक ने 'चरक संहिता' में बताया कि त्रिकाल दोष – वात, पित्त और कफ से शरीर का संतुलन बिगड़ता है। 'चरक संहिता' है, जो आयुर्वेद का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें चिकित्सा, रोग निदान, उपचार और जीवन शैली के बारे में विस्तृत जानकारी दी गई है। चरक संहिता को आयुर्वेद के आठ अंगों में से एक, कायचिकित्सा (शरीर चिकित्सा) का ग्रंथ माना जाता है। सुश्रुत ने भी कई ऐसे सिद्धांत और पद्धतियाँ विकसित कीं जो लोक विज्ञान पर आधारित थीं, जैसे प्लास्टिक सर्जरी, मोतियाबिंद की सर्जरी और शरीर के आंतरिक अंगों की सर्जरी। इन सिद्धांतों से न केवल भारतीय चिकित्सा में बल्कि विश्व चिकित्सा विज्ञान में भी क्रांतिकारी बदलाव देखने को मिले। वागभट्ट एक प्रमुख आयुर्वेदाचार्य थे, जिन्हें 'अष्टांग हृदय' और 'अष्टांग संग्रह' नामक ग्रंथों के लिए जाना जाता है। ये ग्रंथ आयुर्वेद के प्रमुख ग्रंथों में से एक हैं और आज भी चिकित्सा शिक्षा और चिकित्सा पद्धतियों में उनका उपयोग होता है। वागभट्ट का कार्य मुख्य रूप से आयुर्वेद के आठ अंगों पर केंद्रित था। वराहमिहिर की रचना 'बृहत्संहिता' प्राकृतिक विज्ञान, भूगोल, मौसम विज्ञान, खगोल विज्ञान, वास्तुकला और अन्य विषयों का एक व्यापक संग्रह है। इसमें मौसम, भूवैज्ञानिक घटनाओं और कृषि से संबंधित भविष्यवाणियों का वर्णन है, जो लोक विज्ञान पर आधारित हैं।

लोक विज्ञान जीवन के अनुभवों का वह विज्ञान है जिससे मानव जीवन का कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं रह सकता यथाः चिकित्सा पद्धतियाँ (यूनानी, होम्योपैथी, घरेलू नुस्खे, आयुर्वेद, योग एवं शल्यक्रियाएँ, प्राकृतिक पदार्थों से निकलने वाले रासायनिक पदार्थों से रोगाणुरोधी मेडिसिन का निर्माण, शिल्प के क्षेत्र में लोक विज्ञान की समृद्ध परंपरा मानव जीवन की समुदाय में रहने की परंपरा के साथ शुरू हुई जो क्रमिक रूप से विकासशील होते हुए तकनीकी रूप ले लिया है।

लोक विज्ञान–गणित, खगोल और प्राकृतिक विज्ञान–चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के नवरत्नों में शामिल आर्यभट्ट एक महान गणितज्ञ और खगोलशास्त्री था उनके ग्रंथ 'आर्यभटीय' में गणित, त्रिकोणमिति और खगोलशास्त्र के सिद्धांतों का विस्तृत वर्णन किया गया। उन्होंने ग्रहों की गति और सूर्य तथा चंद्रमा की स्थिति का वैज्ञानिक अध्ययन किया तथा शून्य का आविष्कार किया। ब्रह्मगुप्त ने 7वीं शताब्दी में गणित में शून्य के उपयोग को औपचारिक रूप से स्थापित किया और ऋणात्मक संख्याओं के साथ गणना के नियमों का वर्णन किया। उनके ग्रंथ 'ब्रह्मफुटसिद्धांत' में शून्य और ऋणात्मक संख्याओं के गुणधर्मों पर विचार किया गया, जो गणित की नींव को सुदृढ़ करता है और गणितीय ज्ञान के प्रसार में सहायक होता है। इन्होंने ग्रहों की गति, सूर्य और चंद्रमा की स्थिति पर आधारित गणनाओं को प्रस्तुत किया। उनके खगोलशास्त्र संबंधी ग्रंथ, जैसे 'ब्रह्मस्फुटसिद्धांत' ने खगोलशास्त्र के सिद्धांतों को व्यवस्थित किया और उन्हें लोक उपयोग के लिए उपलब्ध कराया। भास्कराचार्य जो 12वीं सदी का महान गणितज्ञ और खगोलशास्त्री था इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ 'सिद्धांतशिरोमणी' है, जो गणित और खगोलशास्त्र पर आधारित है। इस ग्रंथ को चार भागों में विभाजित किया गया है – 'लीलावती' (गणित), 'विज्ञान भैरव' (खगोलशास्त्र), 'सर्वज्ञानसिद्धांत' (गणित और खगोलशास्त्र) और 'कर्मसूत्र' (सर्वगुणसिद्धि)। इसके अतिरिक्त लीलावती बीजगणित, त्रिकोणमिति और अंकगणित पर आधारित है जो लोक विज्ञान की परंपरा में आधुनिक युग में प्रासंगिक है।

लोक विज्ञान : कृषि और पशुपालन

लोक विज्ञान, कृषि, और पशुपालन का गहरा संबंध है, विशेषत: प्राचीन और पारंपरिक समाजों में। लोक विज्ञान का कृषि और पशुपालन पर प्रभाव न केवल तकनीकी दृष्टिकोण से, बल्कि सांस्कृतिक और अनुभवजन्य ज्ञान के रूप में भी था। कृषि के लिए मौसम, मिट्टी, और फसल चक्र का ज्ञान पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होता रहा। जल संचयन, सिंचाई, और प्राकृतिक कीटनाशक बनाने की विधियाँ लोक विज्ञान की देन थीं। किसानों ने स्थानीय जलवायु और मौसम के पैटर्न को समझते हुए खेती की विधियाँ विकसित कीं। किसानों के अनुभव और स्थानीय परंपराएँ कृषि प्रथाओं को प्रभावित करती थीं, जैसे कि किस समय में बीज बोना उचित है और कौन सी फसलें एक साथ लगाना लाभकारी होगा। कृषि के ज्ञान के साथ इन्होंने पशुपालन के महत्त्व को भी समझा जो खेती में सहायक तो था ही साथ ही साथ पौष्टिक आहार तथा परिवहन का एक सुलभ माध्यम भी था। पशुपालन में प्रजनन के अनुभवजन्य तरीकों का उपयोग किया जाता था, जो जनसंख्या वृद्धि और नस्ल सुधार में सहायक होते थे। सबसे ज्यादा महत्त्व तो पशु का धार्मिक अनुष्ठानों में था। वैदिक संस्कृति में गाय को अघन्या माना जाता था क्वगौ विश्व मातरक्व के रूप में पूजनीय रही हैं जो आज भी हम पीढ़ी–दर–पीढ़ी इन्हें हस्तांतरित कर रहे हैं।

लोक विज्ञान के विकास में आधारभूत तकनीकें

प्राचीन समाजों में घर बनाने की तकनीक, कपड़े बुनने की विधि, औजारों और हथियारों का निर्माण, और खाद्य संरक्षण की प्रक्रियाएँ लोक विज्ञान की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ थीं। ये तकनीकें स्थानीय संसाधनों और पारंपरिक ज्ञान पर आधारित थीं। इन तकनीकों के विकास में जो कारक रहे हैं उनमें से प्राकृतिक संसाधन, पारंपरिक ज्ञान और मानव संसाधन प्रमुखता से हैं। यह आधारभूत तकनीकें वर्तमान में भी प्रासंगिक हैं।

लोक कथाओं के माध्यम से लोक विज्ञान का विकास

कई वैज्ञानिक धारणाओं का प्रसार लोककथाओं और कहानियों के माध्यम से हुआ करता था। यह कहानियाँ प्राकृतिक घटनाओं को समझाने, समाज के लिए आवश्यक नैतिक शिक्षा देने और जीवन जीने के तौर–तरीकों को संप्रेषित करने का साधन थीं। लोक और दंतकथाएँ हमें पूर्वजों से हस्तांतरित हुई जिनमें चिकित्सा पद्धतियाँ, नैतिक मूल्यों की शिक्षाएँ, सामूहिक सहयोग की भावनाएँ विकसित होती है। आधुनिक युग में बौद्धिक संपदा से सीमित व्यक्ति कहानियों और कथाओं को उतना तवज्जो नहीं दे पा रहे हैं जिससे हमें लोक विज्ञान को भावी पीढ़ी में हस्तांतरित करने में दिक्कतों का सामना करना पड़ सकता है।

पारंपरिक कला और शिल्प का प्रयोग

वास्तुकला, मूर्तिकला, और अन्य शिल्प कलाओं में भी लोक विज्ञान का प्रभाव दिखाई देता है। स्थानीय सामग्रियों का उपयोग करके विशिष्ट तकनीकों का विकास हुआ, जो समय के साथ परंपरा का हिस्सा बन गईं। प्राचीन काल में लोक विज्ञान का स्वरूप स्थानीय अनुभवों और आवश्यकताओं पर आधारित था। इस ज्ञान का हस्तांतरण मौखिक परंपरा, अभ्यास और सामुदायिक भागीदारी के माध्यम से होता था। लोक विज्ञान ने न केवल प्राचीन समाजों को दैनिक जीवन में मदद की, बल्कि यह उनके सांस्कृतिक और सामाजिक संरचना का भी एक अभिन्न हिस्सा बना। लोक विज्ञान ने आवास निर्माण में स्थानीय रूप से उपलब्ध सामग्री, जैसे कि मिट्टी, लकड़ी, बाँस और पत्थर का उपयोग किया। ये सामग्री स्थानीय पर्यावरण के अनुकूल होती थीं और इन्हें पारंपरिक तकनीकों से ढाला जाता था। स्थानीय जलवायु और पर्यावरणीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए भवनों का डिजाइन किया जाता था। जैसे गर्म क्षेत्रों में घरों के छप्पर ऊँचे बनाए जाते थे ताकि हवा का संचार बेहतर हो सके, जबकि ठंडे क्षेत्रों में घरों को छोटे और घने बनाया जाता था। लोक विज्ञान में कला और शिल्प ने सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन को समृद्ध बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यह परंपरागत ज्ञान और तकनीकों का संरक्षण और प्रसार करने का माध्यम है। लोक कला और शिल्प न केवल समाज की सांस्कृतिक धरोहर को संरक्षित करते हैं, बल्कि आधुनिक समय में भी इनकी प्रासंगिकता बनी हुई है, जहाँ ये कला और शिल्प नई पीढ़ियों को प्रेरित करते हैं और उनकी पहचान को सुदृढ़ करते हैं।

लोक विज्ञान में कला और शिल्प के विविध आयामों का विकास

हस्तशिल्प : मानव आदिकाल से निकलकर जब सामाजिक जीवन में प्रवेश करते हैं तो संयुक्त परिवार प्रथा की परंपरा आरम्भ होती है इस काल में मानव बर्तन, मृदभांड, कोठियाँ, मणके, मटकों का निर्माण शुरू करते हैं जो उल्टी तपाई विधि पर आधारित है। यह हस्तशिल्प की परंपरा हजारों वर्ष बाद आज भी उपयोगी है। लोक विज्ञान में बुनाई और कढ़ाई की एक समृद्ध परंपरा है। राजस्थान में हस्तशिल्प के रूप में आहड़ सभ्यता से लाल-काले मृदभांड व गौरे कोठे मिले हैं, मोलेला हस्तशिल्प के लिए विश्व में अपनी पहचान रखते हैं। कांथा (पश्चिम बंगाल), फुलकारी (पंजाब), और चिकनकारी (उत्तर प्रदेश) जैसी शिल्प कलाएँ स्थानीय तकनीकों और पारंपरिक डिजाइनों पर आधारित होती हैं। धातुशिल्प में आभूषण, सिक्कों की ढलाई, मुद्राएँ, बर्तन, मूर्तियाँ, पूजा सामग्री आदि हमें लोक विज्ञान की समृद्ध परंपराओं से परिचय करवाती है। हथकरघा उद्योग में विभिन्न प्रकार की बुनाई तकनीकों का उपयोग किया जाता है, जैसे कि कैथून का टेराकोटा, जोधपुरी कोट, मैसूर की साड़ियाँ, ढाका की मलमल, इकत (ओडिशा और आंध्र प्रदेश), पटोला (गुजरात), और बनारसी साड़ी (उत्तर प्रदेश)। ये वस्त्र स्थानीय परंपराओं और सांस्कृतिक धरोहर के प्रतीक हैं।

निष्कर्षत : लोक विज्ञान जीवन के अनुभवों का वह विज्ञान है जिससे मानव जीवन का कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं रह सकता यथा: चिकित्सा पद्धतियाँ (यूनानी, घरेलू नुस्खे, आयुर्वेद, योग एवं शल्यक्रियाएँ, प्राकृतिक पदार्थों से निकलने वाले रासायनिक पदार्थों से रोगाणुरोधी मेडिसिन का निर्माण, शिल्प के क्षेत्र में लोक विज्ञान की समृद्ध परंपरा मानव जीवन की समुदाय में रहने की परंपरा के साथ शुरू हुई जिसने क्रमिक रूप से विकासशील होते हुए तकनीकी रूप ले लिया है। ❑

भारत में लोक विज्ञान की समृद्ध परंपरा और वर्तमान समाज

डॉ. गौरी त्रिपाठी
एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग
गुरु घासीदास केंद्रीय विश्वविद्यालय,
बिलासपुर, छत्तीसगढ़

भारतवर्ष की तमाम विशेषताओं में से एक मुख्य विशेषता इसका अपना नजरिया भी है जो जीवन को बहुत स्वाभाविक और सरलता से देखने की दृष्टि देता है। हमारे देश में स्वाभाविक रूप से ही ऐसी तमाम महत्त्वपूर्ण बातें शामिल हैं जिसे हम ज्ञान विज्ञान की श्रेणी में रख सकते हैं। यह अलग बात है कि यह ज्ञान विज्ञान तो सहजता से हमारी जीवन शैली में बहुत पहले से चला आ रहा है, आज समय आ गया है कि हम अपने उसी पारंपरिक लोक विज्ञान की परम्परा को फिर से और सामर्थ्यवान बनाएँ। प्रकृति की इस निर्मिति में सभी जीवों में एक प्राकृतिक सामान्य प्रज्ञा थी परन्तु मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसे एक विशेष बुद्धि-विवेक प्राप्त था। मनुष्य के विकास में यह सबसे बड़ी क्रांति है। वह विवेक, प्रज्ञा, मेधा मनुष्य को सोचने, विचारने को प्रेरित करता है। विवेकशील मनुष्य ने यही सोचने विचारने की प्रेरणा पाकर समस्त जगत पर अपनी विजय को सुनिश्चित किया और अपने आप को पशु से अलग किया। प्रेरणा के चलते मनुष्य ने अपने विवेक से सोचने, आगे बढ़ने, जानने की कोशिश की। अपने शुरूआती जीवन को संचालित करने के लिए, जीवन गढ़ने के लिए, खोजना शुरू किया। अपने जीवन को बेहतर बनाने के लिए अनेक विधाओं को उसने खोजा, जिनसे उसका जीवन अग्रसर हुआ उन दक्षताओं को विज्ञान माना जा सकता है। कालांतर में विभिन्न प्रकार के अनुभवों से उसने ज्ञान का संवर्धन करते हुए, विभिन्न कालखंडों से इसकी प्रवहमानता रखते हुए इस पीढ़ी तक हस्तांतरित किया है। इसी विकास क्रम के अगले अध्याय के रूप में लोक विज्ञान का प्रणयन हुआ। लोक विज्ञान मनुष्य के लिए एक सहज, सरल और स्वाभाविक दिनचर्या के रूप में शामिल रहा है।

> **लोक विज्ञान केवल और केवल जीवन-प्रकृति का सौन्दर्यीकरण है। यह कभी विध्वंसकारी नहीं रहा है। लोक विज्ञान से प्रकृति को कभी आघात नहीं पहुँचा है। लोक विज्ञान की सृष्टि का यही आधार है कि इतनी बड़ी संख्या में आज भी हजारों सालों से मानते अपनाते चले आ रहे हैं। आज आवश्यक है कि लोक विज्ञान की यह परंपरा फिर से जीवन की प्रक्रिया में शामिल हो। तभी बनावटी चमक-दमक ले लिए लालायित और व्याकुल जन-जीवन को आगत दुष्परिणामों से बचाया जा सकता है जिसकी आहट अब पूरी दुनिया महसूस कर रही है। आज समय आ गया है कि हम फिर से एक बार अपने ही देश के लोक विज्ञान की परंपरा को संरक्षित रखें।**

लोक विज्ञान वह पारंपरिक विज्ञान है जो क्षेत्र विशेष की हजारों वर्षों से कई पीढ़ियों द्वारा परीक्षित, निरीक्षित और अनुभव जन्य अध्ययन पर आधारित होता है। पारंपरिक ज्ञान, स्थान सापेक्ष और

काल सापेक्ष होता है। उसकी एक भौगोलिक सीमा होती है। अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्र के पर्यावरण में भिन्नता होती है। हमारे पूर्वजों ने क्षेत्र विशेष में रहते हुए जो अनुभव अर्जित किये उन अनुभवों के आधार पर उन्होंने प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों का सम्यक अनुमान किया और उस अनुमान के आधार पर सुरक्षा एवं जीवन की अन्य व्यवस्थाएँ स्थापित की।

लोक विज्ञान अनुभव का विज्ञान है। लोक विज्ञान की प्रयोगशाला पूरी प्रकृति है। प्रकृति के साथ हमारा जो तादात्म्य है उसी के चलते प्रकृति को हम आत्मसात करते हैं। परिस्थितियों से गुजरता हुआ मनुष्य प्रकृति को और समझने की कोशिश करता रहा। मनुष्य अनुभूति करता रहा उसे प्रमाणित और सत्यापित करता रहा। अपने अनुभव के साथ काम करता गया और यही अनुभूति, विज्ञान की तरह प्रकट होती गयी। लोक विज्ञान जीवन का ज्ञान है जिसमें प्रकृति, जीवन एवं समस्त चराचर जगत समाहित है। बाद की कई पीढ़ियों द्वारा इसे जीवन में घटित होते देखा गया, समझा गया उसके बाद उसे लोक स्वीकृति मिली होगी।

आदिम मनुष्य प्रारंभ से विकासशील रहा है। जहाँ से कृषि संस्कृति का विकास होता है वहीं से लोक संस्कृति या लोक का विकास होता है। कृषि संस्कृति के साथ चलता लोक अनुभव जन्य ज्ञान अपनी अगली पीढ़ी को देता रहा। लोक वहीं से लोक विज्ञान कहलाने लगता है। कृषि संस्कृति के साथ लोक संस्कृति समानांतर भाव से साथ चलती रही है। कृषि संस्कृति के साथ अपनी आवश्यकताओं की प्राप्ति के लिए, प्राकृतिक साधनों को प्राप्त करने के लिए लोक की यह संस्कृति अनवरत प्रयत्न करती रही। आगे उसी प्रयत्न और विवेक से लोक विज्ञान समृद्ध होता गया। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में और विशिष्टता के साथ आगे बढ़ता गया। 'जीवन में लोक विज्ञान' के लेखक वसंत निरगुणे का भी मानना है कि - 'यही लोक-विज्ञान पीढ़ियों के निरीक्षण, परीक्षण और परिणाम का सार है। लोक विज्ञान में किसी भी सत्य एवं तथ्य को पीढ़ियों के व्यवहार के प्रयोगों से गुजरने के बाद लोक संस्कृति स्वीकार करती है'।

लोक विज्ञान के बाद वैदिक विज्ञान और सनातन विज्ञान को भी लोक ने सरलता से अपना लिया। लोक परम्परा अपने समय के हस्तक्षेपों को अपने भीतर समाहित करती चलती है। तभी वह परम्परा है और यह परम्परा जीवित रहती है। हमारे ऋषियों, मनीषियों ने लोक विज्ञान से आई जड़ी-बूटियों के रहस्य को हजारों वर्षों के परीक्षण के बाद आयुर्विज्ञान के रूप में हमें दिया। जो हजारों वर्षों से लोक स्वीकृति से चलता आ रहा है। सबसे पहले भारतीय लोक विज्ञानियों ने ही हमें ज्योतिर्विज्ञान दिया। सूर्य की शक्ति और चंदा मामा की शीतलता को पहचाना। वेद में जो ज्ञान विज्ञान था हमारे ऋषियों ने पुराणों में आख्यान के रूप में उसे प्रस्तुत किया। उस वैदिक विज्ञान को हमने आख्यानों के माध्यम से काफी सरलता पूर्वक प्राप्त किया। पौराणिक काल में सबको समझने के लिए आख्यान और कथा के माध्यम से लोक में संचारित किया गया। लोक विज्ञान को सामान्य जनता तक पहुँचाने के लिए यही माध्यम सर्वश्रेष्ठ था। कथा-मिथक बनाए गए। उस विज्ञान का आधार लेकर मिथक कथाएँ रची गईं, यही हमारे लोक विज्ञान या भारतीय ज्ञान की परम्परा है। आगे चलकर यही हमारा लोक विज्ञान भारतीय ज्ञान परंपरा के रूप में प्रतिष्ठित होता है।

हमारे पूर्वजों ने जो कुछ सोचा, जिन कहावतों, मिथकों, पहेलियों, कथाओं एवं मान्यताओं और जिन विश्वासों का पालन किया, आँख बंद करके उसे मानता रहा, उसके पीछे हजारों वर्षों का अनुभव है और वह ज्ञान है। तब जाकर लोक विज्ञान विकसित हुआ। भोजपुरी भाषी लोक में 'घाघ और भड्डुरी की कहावतें' आज भी प्रचलित हैं -

रोहिन रवे मिर्गिडाह तवे
कुछ दिन आदरा जाय
कहे घाघ सुनो भड्डुरी
स्वान भात न खाय

रोहिणी नक्षत्र में जब बहुत तेज धूप होती है तब तपन से असह्य वेदना होती है। और अदरा नक्षत्र में जब कुछ बीतने

 ISSN 2581-4133

तक बारिश होती है तब मौसम की तरफ इशारा करते घाघ अपनी पत्नी भड्डरी से कहते हैं कि इतना धान उपजेगा कि कुत्ता भी भात नहीं पूछेगा।

आवत आदर दियो नहीं
जात दियो नहीं हस्त।
दोनों मिल पछतात है
वो पाहून गिरहस्त।।

दो लोगों को एक साथ तुलनात्मक करते हुए घाघ लोक परंपरा में कहते हैं कि आदरा नक्षत्र आए और बारिश न हो और जाते जाते हथिया नक्षत्र में बारिश न हों तो कृषक पछताता है कि अदरा में तो वर्षा हुई नहीं तो धान वाली फसल नहीं हुई और अब आने वाले दिनों में रबी की भी फसल नहीं होगी क्योंकि हथिया भी नहीं बरसी है।

लोक मान्यताओं में मनुष्य का सबसे निकट उदाहरण आँगन में तुलसी चौरा भी लोक विज्ञान की ही प्रेरणा से प्राप्त है। तुलसी पौधे से ऑक्सीजन और साथ ही बिना किसी आलस के आँगन से तुलसी पत्ता मिल जाता है, जो विभिन्न रूप से औषधि के रूप में उपयोगी है। आँगन से बाहर निकलें तो गाँव के बीचों-बीच पीपल का पेड़ जहाँ बारहो मास लोग बैठे मिलेंगे। लोक मान्यताओं से इसे पूजते हैं

तथा लोक विज्ञान से यही एक पेड़ है जो चौबीसों घंटे ऑक्सीजन देता है। महिलाएँ पीपल पेड़ में धागे लपेटती हैं अपने पति की रक्षा के लिए और आयु की वृद्धि के लिए। शुद्ध हवा, शुद्ध पानी, शुद्ध तन, मन और आस-पास के शुद्ध परिवेश तथा वातावरण को शुद्ध बनाये रखने के लिए मनुष्य के प्रत्येक आचरण में लोक का यह विज्ञान समाया हुआ है। इस लोक विज्ञान से मनुष्य क्या कोई भी जीव अछूता नहीं है। हमें अलग से किसी कठिन माध्यम से यह सब कुछ सीखने की जरूरत कभी रही ही नहीं, हमारे जीवन सभ्यता की शैलियों में यह कभी धर्म के रूप में कभी मान्यताओं के रूप में और कभी पारंपरिक पोषण की विभिन्न पद्धतियों में लोक विज्ञान शामिल रहा है। बहस इस पर करने की जरूरत नहीं है कि इसे हम किस माध्यम से अपने जीवन में अपनाएँ बल्कि हमारा ध्यान इस पर केंद्रित होना चाहिए कि यह प्राचीन ज्ञान विज्ञान की परंपराएँ जो किसी भी रूप में हमारी जीवन शैली में विद्यमान रही हैं उससे हम कितना लाभान्वित हो सकते हैं तथा इस परंपरा को कैसे जीवित रख सकते हैं।

लोक विज्ञान केवल और केवल जीवन-प्रकृति का सौन्दर्यीकरण है। यह कभी विध्वंसकारी नहीं रहा है। लोक विज्ञान से प्रकृति को कभी आघात नहीं पहुँचा है। लोक विज्ञान की सृष्टि का यही आधार है कि इतनी बड़ी संख्या में आज भी हजारों सालों से मानते अपनाते चले आ रहे हैं। आज आवश्यक है कि लोक विज्ञान की यह परंपरा फिर से जीवन की प्रक्रिया में शामिल हो। तभी बनावटी चमक-दमक लिए लोभ से लालायित और व्याकुल जन-जीवन को आगत दुष्परिणामों से बचाया जा सकता है जिसकी आहट अब पूरी दुनिया महसूस कर रही है। कोरोना काल में हमने ऐसे अनगिनत प्रसंग देखे हैं जहाँ फिर से हमें पारंपरिक स्रोतों पर निर्भर रहना पड़ा है। आज समय आ गया है कि हम फिर से एक बार अपने ही देश के लोक विज्ञान की परंपरा को संरक्षित रखें। हमारे वर्तमान समय और समाज को इन लोक परंपराओं की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है तो क्यों न हम अपनी ही लोक परंपराओं का फिर से पुनरवलोकन करें। दरअसल ऐसा करते हुए हम अपने लोक विज्ञान की परंपराओं और वर्तमान समाज के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित कर सकेंगे। ❑

लोक विज्ञान में कृषि (महत्त्व, योजना एवं सम्भावनाएँ)

लोहित राम
शोधार्थी - राजनीति विज्ञान विभाग, गुरु घासीदास केन्द्रीय विश्वविद्यालय, बिलासपुर - छत्तीसगढ़

कृषि प्रधान देश भारत की अधिकांश जनसंख्या कृषि पर निर्भर है, इसलिए यहाँ लोक विज्ञान में कृषि का विशेष स्थान है। परंपरागत कृषि विधियों में जैसे कि मौसम के अनुसार फसलों का चयन, बीजों का संरक्षण, जैविक खाद का उपयोग, जल प्रबंधन आदि सभी में लोक विज्ञान का अद्‌भुत समन्वय देखा जा सकता है। लोक विज्ञान में कृषि विषय पर विस्तृत चर्चा करने से पूर्व हमें यहाँ लोक विज्ञान को समझाना जरुरी है। सामान्यत: लोक विज्ञान का अभिप्राय उस ज्ञान से है, जो आम जन-मानस द्वारा अनुभव और परंपरागत रूप से अर्जित किया जाता है। यह विज्ञान किसी विश्वविद्यालय या शोध संस्थान द्वारा नहीं बल्कि यह जन-जन में दैनिक जीवन के अनुभवों से उपजा ज्ञान होता है। कृषि भी हमारे समाज में एक ऐसा ही क्षेत्र है, जिसमें लोक विज्ञान का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अधिकतर हम देखते हैं कि ग्रामीण क्षेत्रों में बुजुर्ग किसान अपने अनुभव के आधार पर मौसम की भविष्यवाणी करते हैं, मिट्टी की गुणवत्ता का अनुमान लगाते हैं और उसी के अनुसार अपने खेत में फसल की बुवाई करते हैं अथवा अन्य किसानों को सलाह भी देते हैं। यह ज्ञान कोई पुस्तकीय ज्ञान नहीं, बल्कि पीढ़ी दर पीढ़ी चले आ रहे अनुभवों और प्रथाओं से प्राप्त होता आया है। लोक विज्ञान के आधार पर ऐसी विभिन्न कृषि पद्धतियाँ हैं जिसमें जैविक खेती, मिश्रित खेती, फसल चक्र और प्राकृतिक कीटनाशकों का उपयोग इत्यादि लोक विज्ञान पर ही आधारित हैं। जिसमें भारतीय किसान पारंपरिक रूप से कुछ पेड़-पौधों के पत्तों और अन्य प्राकृतिक पदार्थों से कीटनाशक तैयार करते हैं, जो न केवल पर्यावरण के अनुकूल होते हैं, बल्कि मिट्टी की उर्वरता को भी बनाए रखते हैं। इसी प्रकार, जैविक खाद बनाने की विधियाँ, जैसे गोबर खाद, कम्पोस्टिंग आदि भी लोक विज्ञान का हिस्सा रहे हैं। लोक विज्ञान की खासियत यह है कि यह समय के साथ विकसित होता है और स्थानीय जरूरतों और परिस्थितियों के अनुकूल होता है। यह ज्ञान न केवल स्थानीय समस्याओं का समाधान प्रदान करता है, बल्कि पर्यावरण के साथ संतुलन बनाए रखने में भी सहायक है।

लोक विज्ञान का महत्त्व : लोक विज्ञान वर्तमान समय में इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि आज रासायनिक खेती के दुष्प्रभावों से पर्यावरण और स्वास्थ्य पर संकट मंडरा रहा है। जैविक खेती, जो कि पूर्णत: लोक विज्ञान पर आधारित है, अब पुन: महत्त्व पा रही है। किसानों द्वारा पारंपरिक बीजों का संरक्षण, प्राकृतिक खादों का उपयोग,

 ISSN 2581-4133

मिश्रित खेती और जल संसाधनों का बुद्धिमत्तापूर्ण उपयोग जैसे उपाय फिर से लोकप्रिय हो रहे हैं। आज मिट्टी की उर्वरता का संरक्षण सबसे जरुरी हो गया है, जिसमें पारंपरिक कृषि विधियाँ, जैसे कि फसल चक्र, मिश्रित खेती और जैविक खाद का उपयोग, मिट्टी की उर्वरता को बनाए रखने में सहायक होती हैं। यह न केवल मिट्टी की गुणवत्ता को सुधारता है, बल्कि रासायनिक उर्वरकों के अत्यधिक उपयोग को भी रोकता है। वहीं लोक विज्ञान में जल संरक्षण और प्रबंधन की कई तकनीकें शामिल हैं, जैसे कि तालाब, बावड़ी, और टैंक, जो सूखे और पानी की कमी वाले क्षेत्रों में जल को संचित करने में मदद करते हैं। यह तकनीकें स्थानीय जल संसाधनों के टिकाऊ उपयोग को सुनिश्चित करती हैं। इसके आलावा पारंपरिक बीज, जो स्थानीय जलवायु और मिट्टी के अनुकूल होते हैं, किसानों के लिए एक महत्त्वपूर्ण संसाधन हैं। ये बीज न केवल स्थानीय परिस्थितियों में अधिक उत्पादक होते हैं, बल्कि जैविक विविधता को भी बनाए रखते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि लोक विज्ञान में कीटनाशकों और रासायनिक उर्वरकों के बजाय प्राकृतिक संसाधनों और जैविक विधियों का उपयोग किया जाता है, जिससे पर्यावरण पर न्यूनतम प्रभाव पड़ता है जिससे जैव विविधता को संरक्षित किया जा सकता है। मूलत: कृषि क्षेत्र में लोक विज्ञान पीढ़ी दर पीढ़ी चले आ रहे परंपरागत ज्ञान, अनुभवों और स्थानीय पर्यावरण के साथ सह-अस्तित्व पर आधारित है। यह ज्ञान और प्रथाएँ स्थानीय संसाधनों और जलवायु के अनुसार विकसित हुई हैं, जो कृषि को अधिक स्थायी और पर्यावरण के अनुकूल बनाती हैं। लोक विज्ञान ने किसानों को प्राकृतिक आपदाओं, मौसम में बदलाव और भूमि की उर्वरता को बनाए रखने में मदद की है। इस संदर्भ में सरकार ने कई योजनाएँ लागू की हैं जो इस पारंपरिक ज्ञान को संरक्षित और बढ़ावा देने के उद्देश्य से बनाई गई हैं।

लोक विज्ञान और कृषि का संबंध अत्यंत गहरा है। यह ज्ञान न केवल हमारी पारंपरिक धरोहर है, बल्कि यह सतत कृषि और पर्यावरण संरक्षण के लिए भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। लोक विज्ञान और आधुनिक कृषि तकनीक का संतुलित उपयोग ही भारतीय कृषि के लिए एक स्थायी और समृद्ध भविष्य की कुंजी है। सरकारी योजनाएँ इन दोनों प्रणालियों को किसानों तक पहुँचाने और उन्हें सशक्त बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। लेकिन लोक विज्ञान परक सरकारी योजनाएँ यदि सही ढंग से क्रियान्वित की जाएँ, तो इससे न केवल कृषि उत्पादन में वृद्धि होगी, बल्कि किसानों की आय में सुधार और ग्रामीण विकास भी संभव हो सकेगा। इसलिए कृषि में लोक विज्ञान की महत्ता को समझते हुए इसे संजोना और आगे बढ़ाना हम सबकी जिम्मेदारी है।

लोक विज्ञान परक सरकारी योजनाएँ : भारत की केंद्र एवं राज्य सरकारें किसानों को जैविक खेती, मिट्टी की गुणवत्ता और उर्वरता तथा पारंपरिक जल प्रबंधन तकनीकों को बढ़ावा देने के लिए विभिन्न योजनाएँ एवं कार्यक्रम चला रहीं है। इसमें पारंपरिक कृषि विकास योजना के तहत किसानों को जैविक खेती के लिए प्रेरित किया जा रहा है, जिसमें पारंपरिक ज्ञान का समावेश होता है। किसानों को जैविक खाद, जैविक कीटनाशक और पारंपरिक बीजों का उपयोग करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। यह पारंपरिक कृषि प्रथाओं को पुनर्जीवित करने में सहायक है जिससे किसानों को स्वस्थ और सुरक्षित फसलें उगाने का अवसर मिलता है और मिट्टी की उर्वरता भी बनी रहती है। इसके साथ ही 'मृदा स्वास्थ्य कार्ड योजना' के तहत किसानों को उनके खेत की मिट्टी की गुणवत्ता और उर्वरता के बारे में जानकारी दी जाती है। यह किसानों को पारंपरिक ज्ञान और वैज्ञानिक परीक्षणों के आधार पर उनकी मिट्टी के लिए उपयुक्त फसलें चुनने में मदद करती है, जिससे वे बेहतर उत्पादन प्राप्त कर सकते हैं। इस बीच प्रधानमंत्री कृषि सिंचाई योजना के तहत 'हर खेत को पानी' उपलब्ध कराने और जल उपयोग क्षमता में सुधार के लिए भी काम किया जा रहा है। यह योजना पारंपरिक जल प्रबंधन तकनीकों, जैसे कि तालाब, कुंड, और

नहरों को पुनर्जीवित करती है, और उन्हें आधुनिक सिंचाई प्रणालियों के साथ जोड़ती है, जिससे किसानों को अधिक कुशल जल प्रबंधन का लाभ मिलता है। वहीं केंद्र सरकार की 'राष्ट्रीय कृषि विकास योजना' का उद्देश्य राज्यों को कृषि विकास के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करना है, जिसमें पारंपरिक और आधुनिक कृषि विधियों का समन्वय होता है। इसमें राज्यों को अपनी कृषि योजनाएँ बनाने की स्वतंत्रता दी गई है, जिससे वे स्थानीय लोक विज्ञान और आधुनिक कृषि तकनीक के अनुसार कृषि विकास कर सकते हैं वर्तमान कृषि जरूरतों के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण कृषि योजना 'आत्मा' (कृषि प्रौद्योगिकी प्रबंधन एजेंसी) के माध्यम से देश भर के किसानों को नई कृषि तकनीकों की जानकारी प्रदान की जा रही है। कृषि में नवाचारों का प्रसार करने के उद्देश्य से लागू की गई इस योजना का मुख्य उद्देश्य कृषि उत्पादन और उपज गुणवत्ता में वृद्धि करना है। योजना के तहत किसानों को खेती के साथ-साथ अन्य कृषि से संबंधित गतिविधियों (जैसे पशुपालन, मत्स्य पालन, बागवानी) में प्रोत्साहित किया जाता है। जिसमें 'फार्मर फील्ड स्कूल' के माध्यम से जैविक खाद एवं उर्वरक तैयार करने के लिए भी किसानों को प्रशिक्षण मिलता है। हालाँकि इस बात को नजरंदाज नहीं किया जा सकता

कृषि क्षेत्र में लोक विज्ञान पीढ़ी दर पीढ़ी चले आ रहे परंपरागत ज्ञान, अनुभवों, और स्थानीय पर्यावरण के साथ सह-अस्तित्व पर आधारित है। यह ज्ञान और प्रथाएँ स्थानीय संसाधनों और जलवायु के अनुसार विकसित हुई हैं, जो कृषि को अधिक स्थायी और पर्यावरण के अनुकूल बनाती हैं।

कि विभिन्न कृषि योजनाएं चलने के बावजूद नई चुनौतियाँ समाने हैं।

कृषि चुनौतियाँ और संभावनाएँ : आज आधुनिक कृषि तकनीकों ने कृषि उत्पादन को बढ़ाया है, लेकिन इसने किसानों को पारंपरिक ज्ञान और विधियों से दूर भी किया है। साथ ही युवा किसानों में लोक विज्ञान का ज्ञान कम होता जा रहा है, जो एक बड़ी चुनौती है। इसे संरक्षित करने और पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है। इसके अलावा सरकारी योजनाओं के प्रभावी क्रियान्वयन में कुछ चुनौतियाँ भी हैं। किसानों के बीच जागरूकता की कमी, तकनीकी ज्ञान का अभाव और योजनाओं की सही जानकारी तक पहुँच का न होना प्रमुख चुनौतियाँ हैं। इनसे निपटने के लिए किसानों के बीच योजनाओं के बारे में जागरूकता बढ़ाने के लिए व्यापक प्रचार-प्रसार और प्रशिक्षण कार्यक्रमों की आवश्यकता है। साथ ही योजनाएँ स्थानीय परिस्थितियों और किसानों की जरूरतों के अनुसार बनाई जानी चाहिए ताकि उनका प्रभावी क्रियान्वयन हो सके। वहीं किसानों को आधुनिक तकनीकों का उपयोग करने के लिए तकनीकी सहायता और उचित मार्गदर्शन प्रदान करने की भी जरूरत है।

निष्कर्ष : लोक विज्ञान और कृषि का संबंध अत्यंत गहरा है। यह ज्ञान न केवल हमारी पारंपरिक धरोहर है, बल्कि यह सतत कृषि और पर्यावरण संरक्षण के लिए भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। लोक विज्ञान और आधुनिक कृषि तकनीक का संतुलित उपयोग ही भारतीय कृषि के लिए एक स्थायी और समृद्ध भविष्य की कुंजी है। सरकारी योजनाएँ इन दोनों प्रणालियों को किसानों तक पहुँचाने और उन्हें सशक्त बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। लेकिन लोक विज्ञान परक सरकारी योजनाएँ यदि सही ढंग से क्रियान्वित की जाएँ, तो इससे न केवल कृषि उत्पादन में वृद्धि होगी, बल्कि किसानों की आय में सुधार और ग्रामीण विकास भी संभव हो सकेगा। इसलिए कृषि में लोक विज्ञान की महत्ता को समझते हुए इसे संजोना और आगे बढ़ाना हम सबकी जिम्मेदारी है।❑

 ISSN 2581-4133

शिक्षा में लोक विज्ञान की अवधारणा

डॉ. राम बाबू

सहायक प्राध्यापक
राजनीति विज्ञान विभाग
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय,
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
बिलासपुर, छत्तीसगढ़

लोक विज्ञान वह ज्ञान है, जो पारंपरिक या स्थानीय अनुभवों, प्रथाओं, विचारों, कहावतों और सांस्कृतिक विरासत पर आधारित होता है। यह आमतौर पर औपचारिक विज्ञान की तुलना में कम लिपिबद्ध, सुसंगत और संरचित होता है, लेकिन इसमें गहरा आनुभविक, व्यावहारिक और सांस्कृतिक मूल्य हो सकता है। ''लोक विज्ञान आमतौर पर विज्ञान के प्रमुख सिद्धांतों और तरीकों के बिना विकसित होता है, लेकिन यह समुदाय की जीवनशैली, व्यवहार्यता और उनकी समझ और स्थानीय परिस्थितियों के प्रति अनुकूलन का परिणाम होता है।'' लोक विज्ञान के उदाहरणों में पारंपरिक, वैज्ञानिक और अनुभवजन्य ज्ञान, सांस्कृतिक संदर्भ, स्थानीय विशेषज्ञता, अनौपचारिक शिक्षा, पारंपरिक चिकित्सा प्रणालियां, आध्यात्मिक विद्या, कृषि ज्ञान जैसे - मिट्टी की गुणवत्ता, फसल चक्र और मौसम पूर्वानुमान के तरीके, पर्यावरण सिद्धांत - मौसम के संकेतों का अध्ययन, पक्षियों और बाजार की गतिविधियों, पशु व्यवहार आदि से मौसम और भूकंप की भविष्यवाणियाँ सम्मिलित हैं।

शिक्षा और लोक विज्ञान का इतिहास

''भारतीय शिक्षा और लोक विज्ञान का इतिहास समृद्ध और विविधता पूर्ण है, लोक विज्ञान का इतिहास मानव समाज एवं सभ्यता की सांस्कृतिक और सामाजिक विरासत का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है।'' यह विज्ञान की उन शाखाओं को रेखांकित करता है जो लोक जीवन और परंपराओं के आधार पर विकसित हुई हैं। जिसमें प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक विभिन्न परिवर्तनों और विकास की कहानियाँ शामिल हैं। जिसको समझने के लिए हमें विभिन्न कालखंडों एवं संस्कृतियों का अवलोकन करना होगा।

पुरातन काल - वेदों और उपनिषदों में शिक्षा का उल्लेख मिलता है। शिक्षा का प्रमुख केंद्र गुरु-शिष्य परंपरा थी, जहाँ ज्ञान मौखिक रूप से हस्तांतरित किया जाता था। वेद, पुराण और उपनिषदों में धार्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक विचार शामिल थे। गुप्त काल के दौरान शिक्षा के केंद्र नालंदा और तक्षशिला जैसे प्रख्यात विश्वविद्यालय थे। ये संस्थान उच्च शिक्षा के लिए प्रसिद्ध थे, जहाँ गणित, खगोल विज्ञान और चिकित्सा जैसे गूढ़ विषय पढ़ाये जाते थे। भारत के विभिन्न कालखंडों में आर्यभट्ट और वराहमिहिर जैसे विद्वानों ने खगोल विज्ञान और गणित के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। सुश्रुत ने 'सुश्रुत संहिता' एवं चरक ने 'चरक संहिता' का लेखन किया जो प्राचीन भारतीय चिकित्सा पद्धतियों, विशेष रूप से शल्य चिकित्सा, के बारे में विस्तृत जानकारी प्रदान करते हैं। पाणिनी जिन्होंने भाषाशास्त्र और संरचनात्मक भाषा विज्ञान में अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। लोक विज्ञान के विकास को आगे बढ़ाने में इनका बहुमूल्य योगदान रहा है, जिन्हें आज वर्तमान समय के ज्ञान व्यवहार से तालमेल

बिठाने की आवश्यकता है।

मध्यकाल

इस काल में लोक विज्ञान के क्षेत्र में विभिन्न सांस्कृतिक और धार्मिक प्रभाव देखने को मिले। इस कालखंड में आयुर्वेद, योग, तंत्र विद्या जैसे पारंपरिक ज्ञान के क्षेत्र में प्रगति देखी गई। इसमें चिकित्सा, योग और कृषि से जुड़ा ज्ञान शामिल था। इसके अलावा, भक्ति आंदोलन और सूफी परंपरा ने सामाजिक और धार्मिक शिक्षा को बढ़ावा दिया। शिक्षा की पहुँच व्यापक और अधिक समावेशी हो गई। लोक विज्ञान नें लोक चिकित्सा और प्राकृतिक चिकित्सा जैसे पारंपरिक ज्ञान और विज्ञान का सन्तुलन बनाए रखा गया।

पुनर्जागरण एवं आधुनिक युग

17वीं और 18वीं शताब्दी में वैज्ञानिक और औद्योगिक दृष्टिकोण का उदय हुआ। यूरोप में वैज्ञानिक क्रांति के दौरान लोक विज्ञान को भी नई दिशा मिली। इसके तहत पारंपरिक ज्ञान और आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का मिश्रण देखने को मिला और 20वीं और 21वीं सदी जिसे आधुनिक युग के नाम से जाना जाता है, इसमें लोक विज्ञान ने तकनीकी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नए आयाम स्थापित किए। आधुनिक समय में भारतीय शिक्षा व्यवस्था में सुधार और विस्तार हुआ। विश्वविद्यालय, आईआईटी, आईआईएम और अन्य उच्च शिक्षा संस्थान स्थापित किए गए। शिक्षा का अधिकार अधिनियम और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 जैसे उपायों के माध्यम से शिक्षा की पहुँच और गुणवत्ता में सुधार किया गया। वहीं लोक विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान एवं संरक्षण की दिशा में भी कई प्रयास किये जा रहे हैं और पारंपरिक ज्ञान को भारतीय लोक विज्ञान परिषद, अनुसंधान संस्थानों और गैर-सरकारी संगठनों के माध्यम से प्रलेखित और संरक्षित किया जा रहा है। जिससे समृद्ध प्राचीन ज्ञान को वर्तमान ज्ञान परंपरा से जोड़ा जा सके और स्थानिक, जनसांख्यिकी, पारंपरिक पारिस्थितिकी और सांस्कृतिक अध्ययनों के माध्यम से लोक विज्ञान के अध्ययन को और विस्तार दिया जा सके। वर्तमान समय में शिक्षा, स्वास्थ्य, सतत विकास, जलवायु और पर्यावरण संबंधी चिंताओं ने लोक विज्ञान के महत्त्व को और बढ़ा दिया। इस प्रकार लोक विज्ञान का इतिहास एक समृद्ध और विविध क्षेत्रों तक है, जो समाजिक और सांस्कृतिक विरासत की शृंखला को समझने में मदद करता है। यह पारंपरिक ज्ञान और आधुनिक विज्ञान के बीच एक सेतु का कार्य करता है।

शिक्षा में लोक विज्ञान की आवधारणा

शिक्षा में लोक विज्ञान की अवधारणा औपचारिक शिक्षा ढाँचे में पारंपरिक और स्थानीय ज्ञान को शामिल करने की एक प्रक्रिया है। इस अवधारणा के तहत, यह माना जाता है कि पारंपरिक अनुभव और सांस्कृतिक परंपराएँ शिक्षा में मूल्यवान हो सकती हैं और शिक्षण को अधिक प्रासंगिक और समृद्ध बना सकती हैं।

> "लोक विज्ञान और औपचारिक विज्ञान में सामंजस्य बिठाकर, एक व्यापक और समृद्ध समझ विकसित की जा सकती है जो ज्ञान के विविध रूपों को स्वीकार करती है और उन्हें संजोती है।"
>
> 'लोक विज्ञान' शब्द प्राकृतिक दुनिया से संबंधित अनौपचारिक, पारंपरिक या स्वदेशी ज्ञान और प्रथाओं को संदर्भित करता है जो एक समुदाय या संस्कृति के भीतर विकसित और प्रसारित किए गए हैं। इसमें वे तरीके शामिल हैं जिनसे लोग अपनी सांस्कृतिक और स्थानीय परंपराओं के आधार पर प्राकृतिक घटनाओं को देखते, समझते और समझाते हैं।

लोक विज्ञान की अवधारणा के प्रमुख तत्त्व

1. प्राकृतिक एवं सामाजिक अनुभव : पारंपरिक ज्ञान एवं लोक विज्ञान प्रायः स्थानीय पर्यावरण एवं सामाजिक संदर्भों से जुड़ा होता है। इसे शिक्षा में शामिल करके छात्र अपने स्थानीय दृष्टिकोण और अनुभवों को समझ सकते हैं।

2. सांस्कृतिक मूल्य : लोक विज्ञान में स्थानीय सांस्कृतिक प्रथाओं और मान्यताओं को शामिल किया जाता है, जो छात्रों को उनकी सांस्कृतिक पहचान से जोड़ता है और उनकी सांस्कृतिक समझ को बढ़ाता है।

3. अनुभवात्मक शिक्षा : लोक विज्ञान सामान्यतः अनुभव और व्यावहारिक ज्ञान पर आधारित होता है। इस ज्ञान को शिक्षा में शामिल करने से छात्रों को व्यावहारिक और वास्तविक दुनिया की समस्याओं को हल करने के लिए तैयार किया जा सकता है।

4. समस्या समाधान और नवाचार : पारंपरिक ज्ञान में कई स्थानीय समस्याओं का समाधान शामिल है। इसे शिक्षा में शामिल करके, छात्र समस्या निवारण और नवाचार के लिए नए दृष्टिकोण प्राप्त कर सकते हैं।

5. जुड़ाव और प्रेरणा : लोक विज्ञान शिक्षा में सांस्कृतिक और पारंपरिक परंपराओं के साथ विद्यार्थियों को अपनी जड़ों और पहचान से जोड़ता है, जिससे शिक्षा के प्रति उनकी रुचि और प्रेरणा बढ़ती है।

6. बहुविषयक दृष्टिकोण : लोक विज्ञान और औपचारिक विज्ञान के बीच संतुलन बनाकर शिक्षा के प्रति एक समग्र दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसमें विविध दृष्टिकोण शामिल हों।

शिक्षा और लोक विज्ञान के बीच संबंधों का महत्त्व

शिक्षा और लोक विज्ञान के बीच संबंध गहरा और महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि लोक विज्ञान औपचारिक शिक्षा के साथ स्थानीय

ज्ञान और अनुभव को जोड़ता है। इस रिश्ते को समझने से हमें शिक्षा को अधिक प्रासंगिक, समृद्ध और विविधतापूर्ण बनाने में मदद मिल सकती है। यहाँ कुछ मुख्य बिंदु दिए गए हैं जो इस संबंध को स्पष्ट करते हैं –

1. शिक्षण विधियाँ : पारंपरिक ज्ञान और प्रथाओं को शिक्षण विधियों में एकीकृत करें, जैसे परियोजना-आधारित शिक्षा या क्षेत्र यात्राएँ आदि।

2. पाठ्यचर्या एकीकरण : लोक विज्ञान के तत्त्वों को पाठ्यक्रम में एकीकृत किया जा सकता है, जैसे सामाजिक और पारिवारिक मूल्य, स्थानीय कृषि पद्धतियाँ, पारंपरिक चिकित्सा और सांस्कृतिक परंपराएँ आदि।

3. शिक्षक प्रशिक्षण : शिक्षकों को लोक विज्ञान और सांस्कृतिक ज्ञान के महत्त्व को समझने और उन्हें शिक्षा में प्रभावी ढंग से शामिल करने के लिए प्रशिक्षण प्रदान करें।

4. शिक्षा में विविधता और समावेशिता : लोक विज्ञान शिक्षा में विविध दृष्टिकोण और पद्धतियाँ प्रदान करता है, छात्रों को समृद्ध और बहुआयामी शिक्षा प्रदान कर सकता है। विभिन्न समुदायों और सांस्कृतिक समूहों के बीच सामाजिक समावेशिता स्थापित किया जा सकता है।

5. अनुभवात्मक शिक्षा और व्यावहारिक ज्ञान : लोक विज्ञान पर आधारित शिक्षा में अनुभवात्मक पद्धतियों को अपनाया जा सकता है, तथा पारंपरिक ज्ञान प्राय: व्यावहारिक और प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित होता है, जिसे शिक्षा में शामिल करने पर विद्यार्थी को व्यावहारिक समस्याओं का समाधान खोजने में सक्षम बनाया जा सकता है।

6. समुदाय और माता-पिता की भागीदारी : परिवार, समुदाय और माता-पिता को शिक्षा प्रक्रिया में शामिल करें, ताकि वे अपने पारंपरिक ज्ञान और अनुभवों को साझा कर सके।

7. सामुदायिक और सामाजिक जिम्मेदारी : शिक्षा में लोक विज्ञान के तत्त्वों को शामिल करने से शिक्षा और समाज के बीच संवाद और सहयोग मजबूत होता है और छात्र को अपने समाज और पर्यावरण के प्रति जिम्मेदारी और संवेदनशीलता विकसित करने में मदद मिलती है।

8. आधुनिक और पारंपरिक शिक्षण पद्धतियाँ और स्थानीय सामग्रियों का उपयोग : शिक्षा में लोक विज्ञान को शामिल करके, पारंपरिक शिक्षण पद्धतियाँ और आधुनिक पद्धतियों का समन्वय हो सकता है, जिससे शिक्षण को अधिक प्रभावी और सुलभता पूर्ण निर्मित किया जा सकता है, तथा स्थानीय संसाधनों और सामग्रियों का उपयोग करके, स्थानीय संदर्भ में शिक्षा को अधिक प्रासंगिक और व्यावहारिक बनाया जा सकता है।

इस प्रकार, शिक्षा और लोक विज्ञान का एकीकरण एक समग्र और सुव्यवस्थित शिक्षा प्रणाली एवं विविध दृष्टिकोण को बढ़ावा देता है, जो छात्रों को अपने सांस्कृतिक संदर्भ में समझने और सीखने का अवसर प्रदान करता है। यह उन्हें न केवल शैक्षणिक दृष्टि से बल्कि व्यावहारिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी समृद्ध करता है।

निष्कर्ष

''लोक विज्ञान और औपचारिक विज्ञान में सामंजस्य बिठाकर, एक व्यापक और समृद्ध समझ विकसित की जा सकती है जो ज्ञान के विविध रूपों को स्वीकार करती है और उन्हें संजोती है।'' 'लोक विज्ञान' शब्द प्राकृतिक दुनिया से संबंधित अनौपचारिक, पारंपरिक या स्वदेशी ज्ञान और प्रथाओं को संदर्भित करता है जो एक समुदाय या संस्कृति के भीतर विकसित और प्रसारित किए गए हैं। इसमें वे तरीके शामिल हैं जिनसे लोग अपनी सांस्कृतिक और स्थानीय परंपराओं के आधार पर प्राकृतिक घटनाओं को देखते, समझते और समझाते हैं। ये विज्ञान अभी भी लोगों के पास मौखिक रूप में हैं। लोक विज्ञान अक्सर सांस्कृतिक परंपराओं, लोककथाओं और रोजमर्रा की प्रथाओं में अंतर्निहित होता है। इसमें कृषि, पशुपालन, औषधीय पौधों, मौसम के पूर्वानुमान और पर्यावरण के विभिन्न अन्य पहलुओं के बारे में ज्ञान सम्मिलित होता है। इस प्रकार का ज्ञान आमतौर पर पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक रूप से प्रसारित होता है और हमेशा प्राकृतिक दुनिया की औपचारिक वैज्ञानिक समझ के साथ संरेखित नहीं हो सकता है। ❑

भारत में वृक्षों का लोक विज्ञान

डॉ. प्रतिमा मोहन कौशिक
सेवानिवृत्त प्रधानाचार्य,
डाइट, टोंक, राजस्थान

मानव सभ्यता के विकास में वनों, उद्यानों तथा वृक्षों का सर्वाधिक महत्त्व रहा है। भारत के भौगोलिक क्षेत्र का लगभग 25 प्रतिशत भू-भाग वनाच्छादित है। उत्तर के हिमाच्छादित वनों, उत्तर-पूर्व के उष्ण कटिबंधीय सदाबहार वनों, पर्वतीय तलहटी के शुष्क पतझड़ वाले वनों, चौड़ी पत्ती वाले वनों, मध्यम नम जलवायु वाले वनों के अतिरिक्त अल्पाइन घास के मैदानों और अनेक कंटीले वृक्षों से भरे सघन वनों का वैविध्य भारत भूमि पर पाया जाता है। सोने-बैठने, घर बनाने, यात्रा की गाड़ियाँ, भोजन पकाने-खाने जैसे न जाने कितने ही ऐसे उपकरण वनों तथा वृक्षों की लकड़ी से बनते रहे हैं। हमारे देश में तो प्रकृति पूजा के क्रम से अनेक वृक्षों की तथा अरण्यों की पूजा की जाती है। जो भारत को प्रकृति-पूजक बनाती है। धीरे-धीरे कालान्तर में सभ्यता के विकास के साथ अन्वेषी लोगों ने जीवनानुभव के आधार पर इन वृक्षों, पेड़-पौधों तथा सभी प्रकार के पादपों के तने, छाल, गोंद, फूल, फल, पत्ती, टहनी आदि के लोकहितकारी उपयोग सिद्ध किये जो लोक के विज्ञान बोध का ही परिचायक था। स्वाभाविक रूप से लोक में निरन्तर पाये जाने वाले दैनिक प्रामाणिक अभ्यास तथा व्यवहार को विद्वान लोगों ने शास्त्र बद्ध कर लिया। पत्थर, मिट्टी, लाख, खनिज धातुओं आदि के उपयोग भी ऐसे ही लोकजीवन में स्थान बना पाये हैं। यही वन सम्पदा प्रकृति द्वारा मानव जाति का प्रदत्त अनमोल खजाना है। इनके संरक्षण और संवर्द्धन से जनजीवन में प्राण वायु का संचार होता है।

वस्तुतः पेड़ हमारे जीवन रक्षक हैं और हमारी आस्था के केन्द्र भी हैं। पीपल में विष्णु भगवान, लक्ष्मी जी तथा पितृ देव, आँवले में लक्ष्मी जी, गूलर में विष्णु एवं रूद्र, कदम्ब में श्रीकृष्ण, बरगद में ब्रह्मा व कुबेर, ढाक में ब्रह्मा और गंधर्वों का निवास माना जाता है। वृक्षों से पर्यावरण संरक्षण और उनसे मिलने वाली लकड़ी, छाल, फल-फूल, गोंद, औषधियों जैसे अनेक उपयोगी पदार्थ उपलब्ध होते हैं जिनका सामान्य जानकारी के कारण सामान्यजन दैनिक व्यवहार में समुचित उपयोग करते हैं। भारत में लगभग पैंतालीस हजार छोटे-बड़े फल-फूलदार तथा छायादार वृक्षों-पादपों की प्रजातियाँ पाई जाती हैं जिनका लोक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन वृक्षों और पेड़-पौधों में अनेक औषधीय पादप होते हैं जिनसे अनेक स्वास्थ्यकारी औषधियाँ बनाई जाती हैं। कुछ पादप वृहदाकार वृक्षनुमा होते हैं जिनकी लकड़ी ईंधन, घरेलू उपयोग की वस्तुएँ बनाने, घर बनाने तथा बड़ी-बड़ी इमारतों के निर्माण में तथा सहायक सामग्री के रूप में उपयोग में ली जाती है।

वृक्षों से हमारे आसपास का वातावरण तो शुद्ध होता ही है, इनसे हमें भरपूर मात्रा में ऑक्सीजन भी सुलभ होती है। वृक्ष सदैव अपने आसपास के वातावरण को सुखद और शीतल बनाते हैं। अनेक पेड़-पौधे और लताएँ ऐसी हैं जिनकी सुगन्ध और उसमें लगने वाले फूलों से लोकजीवन में गहरा आनंद तो होता ही है, इनके रंग-बिरंगे फूलों से उत्सवकारी

 ISSN 2581-4133

वातावरण का निर्माण होता है। हमारे प्राचीन मनीषियों ने अलग-अलग कालावधि में उत्पन्न होने वाले फूलों और फलों के आधार पर ही ऋतुओं के नामकरण और उनसे जुड़े उत्सव व त्योहारों की कल्पना की होगी। कालिदास की विख्यात कृति ऋतु संहार की प्रकृति-नटी की कल्पना इन वृक्षों और लता-गुल्मों के कारण ही सार्थक हुई है। प्रकृति का सर्वव्यापी सौन्दर्य भी इन भिन्न-भिन्न प्रजाति के पेड़-पौधों की भिन्न-भिन्न स्थितियों के प्रकटीकरण से ही बना है। ये नानाविध वृक्ष और लताएँ अनेक पशु-पक्षियों का बसेरा बनकर अपने प्राकृतिक वैविध्य को ही प्रकट करते हैं।

भारतीय लोक विज्ञान में इन पादपों का बहूपयोगी विवेचन शालिहोत्र तथा सुरपाल दो अलग-अलग पादप विज्ञानियों द्वारा 'वृक्षायुर्वेद' शीर्षक कृतियों में किया है जिनमें भारत की दुर्लभ तथा समृद्ध वृक्ष-सम्पत्ति का उल्लेख मिलता है। 'वृक्षायुर्वेद' को आयुर्वेदशास्त्र के रूप में विश्वभर में स्वीकृति प्राप्त है। इसमें विभिन्न पादपों के गुण-धर्म, इनके लिए अलग-अलग उपयुक्त मिट्टी का चयन, पादप प्रसार तकनीक, अर्थात् पादप के किस अंग से, जैसे कि बीज, जड़, कटाई, अस्थिर भाग से उसका सम्यक जनन (प्रोपेगेशन) किया जाय? साथ ही इसमें पादप का उचित पोषण, पादपों में लगने वाले रोगों का उपचार आदि की जानकारी प्राप्त होती है। 'वृक्षायुर्वेद' के अनुसार एक पौधे के जीवन को दस मनुष्यों के जीवन के बराबर माना गया है जो कि प्राचीनकाल से ही जनजीवन में वृक्षों के महत्त्व को दर्शाता है। भारत में तो सदा-सदा से राजाओं के संरक्षण में या जनसाधारण के संरक्षण में सुरम्य तथा विशाल उद्यानों का उल्लेख मिलता है जिसकी प्रासंगिकता आज आपाधापी के जीवन में भी बनी हुई है। नीम, पीपल-पलाश, तुलसी, कदली, बलिता, जामुन, आँवला आदि का महत्त्व उनमें लगने वाले फलों तथा उनकी लकड़ी की विशिष्टता के कारण वैसे ही बना हुआ है। कहा गया है -

वृक्ष कबहु नहिं फल बखै,
नदी न संचै नीर।
परमारथ कै कारणै
साधु न धरा सरीर।।

वृक्षों से हमारे आसपास का वातावरण तो शुद्ध होता ही है, इनसे हमें भरपूर मात्रा में ऑक्सीजन भी सुलभ होती है। वृक्ष सदैव अपने आसपास के वातावरण को सुखद और शीतल बनाते हैं। अनेक पेड़-पौधे और लताएँ ऐसी हैं जिनकी सुगन्ध और उसमें लगने वाले फूलों से लोकजीवन में गहरा आनंद तो होता ही है, ये रंग-बिरंगे फूलों से उत्सवकारी वातावरण का निर्माण होता हे। हमारे प्राचीन मनीषियों ने अलग-अलग कालावधि में उत्पन्न होने वाले फूलों और फलों के आधार पर ही ऋतुओं के नामकरण और उनसे जुड़े उत्सव व त्योहारों की कल्पना की होगी।

गीता में भगवान श्री कृष्ण ने कहा है कि 'वृक्षों में मैं पीपल हूँ' यह वृक्षों और पादपों के महत्त्व को रेखांकित करने वाला उदाहरण ही है। अनेक वृक्ष तथा पौधे हमारे लिए स्वास्थ्यवर्द्धक और 'घर के वैद्य' हैं। यहाँ कुछ पौधों के वानस्पतिक तथा औषधीय गुणों का विवेचन दिया जा रहा है।

अमलतास - ग्रीष्म ऋतु की भीषण गर्मी में जब चारों ओर पेड़ सूखने लगते हैं तब अमलतास के पत्ते भी एकबार गिर जाते हैं, किन्तु सारा पेड़ पीले फूलों से बेहद सुन्दर हो जाता हे। नजर के टीके के रूप में बीच-बीच में काली फलियाँ भी लटकी रहती हैं। यह भारत का मूल वृक्ष है जिसे संस्कृत में नृपद्रुम, हेमपुष्प, व्याधिघात आदि नामों से जाना जाता है। वनस्पति शास्त्र में इसे 'केसिया फिस्टुला' कहा जाता है। पत्ते एक साथ झड़ने के कारण यह पर्णपाती पेड़ों की श्रेणी में आता है। आयुर्वेदिक दृष्टि से यह ज्वर, हृदय रोग, रक्त पित्त, वात, उदावर्त और शूल नाशक के रूप में उपयोगी है। इसके पत्ते, छाल, गोंद, फूल, जड़ आदि सभी अवयव अनेक रोगों के उपचार में उपयोगी बताये गये हैं।

पीपल - हिन्दू धर्मशास्त्रों में पीपल एक पूजनीय वृक्ष है जिसमें प्राणवायु (ऑक्सीजन) देने की क्षमता तथा शीतलता प्रदान करने का सामर्थ्य सर्वाधिक है। संस्कृत में यह अश्वत्थ, पिप्पल, बोधिद्रुम, चैत्यद्रुम, धनुर्वृक्ष, महाद्रुम, वृक्षराज आदि नामों से जाना जाता है। छाया तथा शीतलता के साथ इसकी छाल, गोंद, पत्ते, फल आदि से बनी अनेक औषधियों की उपयोगिता खुजली, दमा, हिचकी, पैरों की बिबाई, प्रमेह, वमन, दन्तरोग, चर्मरोग, उदरशूल आदि में रहती है।

पारिजात - यह सुगंधित पुष्पों वाला पेड़ गुल्म अथवा झाड़ी या कभी कभी पेड़ के आकार का होता है। केसरिया डंडी वाले सफेद फूल रात्रि काल में अद्भुत मनमोहक होते हैं। इसके पुष्प संध्याकाल में खिलकर

रातभर महकने के बाद प्रात:काल झड़ जाते हैं। इसे पारिजात, हारसिंगार, नलकुंकुम, कृष्णवेणी आदि नामों से भी जाना जाता है। इसका बोटेनिकल नाम 'नाइट जैस्मिन' है। इसके पाँचों अंग- मूल, छाल, पत्ते, फूल और बीज सभी औषधीय गुणों से भरपूर हैं। यह कफ, वात को दूर करने, रक्त शोधन, ज्वर, खांसी, ब्रोंकाइटिस, कृमिनाशक आदि के रूप में बहुत उपयोगी माना गया है।

बरगद - वट, बहुपाद, रक्तफल, शुंगी, क्षीरी, भृंगी, बड़ आदि अन्य नामों से जाना जाने वाला बरगद छायादार पेड़ों का सिरमौर है। इसके फल, दूध, जटा, पत्ते आदि सभी उपयोगी हैं। आयुर्वेद के ग्रंथ भाव प्रकाश में बरगद को कफ, पित्त, व्रण तथा दाह का नाशक बताया गया है। प्रकृति ने इसे शीतल, भारी तथा प्राणिमात्र के लिए सर्वाधिक उपयोगी बताया है। इसका दूध व्रण, संधिशोथ, आमवात, कमर दर्द ग्रंथिशोथ, कर्णस्राव और दन्तशूल में काम लिया जाता है।

आम - आम भारत के सभी भौगोलिक अंचलों में पाया जाता है तथा इसका फल अन्य सभी फलों का राजा कहलाता है। फलों के समान ही इसका पेड़ भी सघन, गहरा हरा तथा सुन्दर होता है। आम्रमंजरी 'आम के पत्ते तथा फल आदि सभी में एक अत्यन्त मोहक सुगन्ध' समाई रहती है। वसन्त के वातारण को आम की वल्लरियाँ सर्वाधिक सम्मोहक बनाती हैं। वनस्पतिशास्त्र के अनुसार यह 'एनाकार्डिएसी' कुल का वृक्ष है जिसे संस्कृत में आम्र, रसाल, सहकार, पिकवल्लभ, मधुदूत, फलश्रेष्ठ, कामवल्लभ आदि नामें से जाना जाता है। हिन्दी व बंगला में आम, मराठी में आंबा, गुजराती में अमरी, आंवो, तेलगू में माविड़ी, मलयालम और कन्नड़ में मावु तथा अरबी-फारसी में इसे अंबजनाम से जाना जाता है।

आम की वैसे तो सैकड़ों किस्में हैं किन्तु मूलत: यह बीजू व कलमी रूप में ही तैयार किया जाता है अर्थात् बीज बोकर अथवा कलम लगाकर। तीसरी किस्म जंगलों में स्वत: उगने वाले आम रानी आम कहलाते हैं। आम के भी सभी अंग उपयोगी होते हैं। इसका फल मधुर, स्निग्ध, वातनाशक, कांतिवर्धक, प्रमेहनाशक, व्रण व रक्त रोगों को दूर करने वाला होता है। इसके पत्ते, गुठली, लकड़ी, तना आदि सभी बहूपयोगी हैं। इसकी लकड़ी सामान्य घरेलू कार्यों, घर के दरवाजों, खिड़कियों, माचिस, नाव आदि बनाने के लिए भी उपयुक्त है।

आँवला - इसे संस्कृत में आदिफल, धात्री, आमलक, आमस, पंचरसा, शिवा, वयस्था, अमृतफल आदि नामों से जाना जाता है। इसकी लकड़ी से खेती के उपकरण बनाये जाते हैं तथा पत्ते चारे व खाद के रूप में उपयोगी हैं। आँवले का मुरब्बा, अचार, च्यवनप्राश, त्रिफला आदि में प्रयोग होता हैं। आयुर्वेद में इसे स्वयं एक रसायन माना गया है। यह प्रमेह, मूत्ररोग, बवासीर, नेत्ररोग, पित्तज्वर, गठिया, रक्तपित्त, पाण्डुरोग सुजाक, नक्सीर, चर्मरोग आदि के लिए अमृतौषधि माना गया है।

उल्लेखनीय है कि आँवले को उगाने व तैयार करने में किसी विशेष प्रकार की मिट्टी, वातावरण या रखरखाव की आवश्यकता नहीं होती। आँवले का स्मरण शक्ति की वृद्धि तथा तीक्ष्ण बुद्धि के लिए भी उपयोग किया जाता है।

मौलश्री - यह सदैव हरा भरा रहने वाला गोल छत्रनुमा शोभाकारी वृक्ष है। यह मधूक कुल का पेड़ है जिसे संस्कृत में बकुल, मधुगंध, अनंगका, चिरपुष्प, भ्रमरानन्द, सिंहकेसरक आदि नामों से जाना जाता है। आयुर्वेद में इसकी छाल, पुष्प, फल आदि का उपयोग कफ, पित्त, विष, श्वेत कोढ़, कृमि कुष्ठ, सूजन तथा दन्तरोगों के उपचार के लिए उपयोगी बताया है।

रोहिड़ा - राजस्थान की मरूभूमि में पीले व नारंगी फलों से भरा अद्भुत शोभाकारी पेड़ है यह। इसकी लकड़ी बहुत मजबूत होती है। जिसमें दीमक नहीं लगती, इसीलिए इसे मरूस्थल का सागवान कहा जाता है। यह पश्चिमी राजस्थान के छायादार पेड़ों में प्रमुख है। इसे रोहीतक, दडिमपुष्प, दाड़िमच्छद, प्लीहघ्न या प्लीहशत्रु कहते हैं। वनस्पति विज्ञान में इसे टेकोमा अनड्यूलेटा कहा जाता है। यह रूधिर को शुद्ध करने, कृमिरोग, व्रण, कफ, वात, कब्ज, विष विकार, यकृत के रोगों के उपचार में उपयोगी माना गया है।

इस प्रकार भारत में और भी अनेक पौधों व वृक्षों की बहुत लम्बी श्रृंखला है जिनकी जानकारी शिक्षक विद्यार्थियों के मध्य जानी चाहिए। वृक्षायुर्वेद में इस सबके संरक्षण, पोषण का उपयोग का विस्तार से वर्णन मिलता है। कदम्ब, गुडहल, ढाक, लेहसुआ, बेर, बकायन, नीम, शरीफा, शीशम, देवदारू, सेमल, बील, शहतूत, अशोक, सहजन, इमली, सिरस, चम्पा, अरीठा, अगस्त्य जैसे अनेक वृक्ष हैं जिनकी लोक जीवन में उपयोगिता भी है और वे पर्यावरण के लिए भी अनुकूल हैं। ❑

ISSN 2581-4133

राजस्थानी के श्रमप्रधान लोकगीतों में विज्ञान

डॉ. गजादान चारण

आचार्य, हिन्दी
राजकीय कन्या महाविद्यालय,
लाडनूँ, राजस्थान

दुनिया के किसी भी हिस्से में श्रम करने वाले लोगों का अध्ययन करने पर पाएंगे कि उन श्रमसाधकों ने अपनी श्रमजनित थकान को दूर भगाने के लिए सहज संगीत का सहारा लिया है। सहज संगीत से मतलब जिसमें किसी साज-बाज की जरूरत नहीं, जिसमें सुर-ताल की बहुत ज्यादा वाँछा नहीं, जिसे गाते समय सांस की साधना कम से कम करनी पड़े, जिसे गाने के दौरान शरीर के अन्य अंग अपना-अपना काम निर्विघ्न रूप से संपन्न करते रहें, जिसे सामूहिक रूप से गाया जा सके, जिसे गाने से स्फूर्ति मिले। भारतवर्ष के अन्य क्षेत्रों के साथ राजस्थान प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में भी कृषिकार्य करते समय श्रमजनिक थकान से निवृत्ति दिलाने वाले ऐसे सरस लोकगीतों की रुणकार सुनाई देती है। यहाँ के जनजीवन में संगीत तत्व रचा-बसा है। सामूहिक कार्य, कोई भी हो, उससे संबंधित लोकगीतों का प्रचलन रहा है। प्रात:काल महिलाएँ चक्की पीसती थी तो उस समय के अपने लोकगीत, विवाह-शादी में हल्दी बँटाई करे तो सामूहिक लोकगीत, दाल-चुगाई करे तो लोकगीत, बड़ी-मूंगोड़ी बनाए तो उस समय के सामूहिक लोकगीत उल्लास, उमंग एवं स्फूर्ति देने के साथ श्रम की थकान से ध्यान हटाने का उद्देश्य भी पूर्ण करते हैं। श्रमजनित थकान से मुक्ति का यह विज्ञान इतना व्यावहारिक एवं प्रयोगसिद्ध है कि यह हर देश काल परिस्थिति में कारगर सिद्ध होता है तथा वांछित परिणाम देता है।

पश्चिमी राजस्थान में खेतों में किसानों द्वारा कृषिकार्य करते हुए सामूहिक रूप से गाए जाने वाले लोकगीतों को 'राम-भणना', 'राम-भणत', भणत आदि नामों से जाना जाता है। यद्यपि राम भणत का मतलब यह नहीं है कि इन गीतों में केवल राम का गुणगान हो या ये मात्र राम से संबंधित गीत ही हैं वरन इनमें तो लोकजीवन से जुड़े अनेक अनौपचारिक गीत हैं, जिनमें राजस्थान की वीर-लोकगाथाएँ, प्रेम-कथाएँ, नीति-कथाएँ, हास्य-व्यंग्य, विनोद-व्यवहार, भक्ति-भाव, नाम स्मरण आदि से जुड़े विविध विषय सम्मिलित हैं। जहाँ तक इन्हें 'राम' के नाम से अभिहित करने का विषय है, यहाँ 'राम' का मतलब अपने आराध्य, पूज्य एवं श्रद्धेय सभी पात्रों से है, जिनसे उनके जीवन को प्रेरणा-प्रोत्साहन, अंजस-आनंद और नीति-मर्यादा की सीख मिलती है। यहाँ के जीवन में परंपरागत रूप से 'हाथां काम अर जीभा राम की शिक्षा वार-त्योहार, आडी-ओखाणां, बातां-ख्यातां, रास-रामत, कथा-वार्ता, जम्मा-जागरण एवं मठ-मंदिर' में साधु-संतों एवं गुणीजनों द्वारा युगों-युगों से दी जाती रही है। यही

कारण है कि आज भी यह अनमोल एवं अनूठी परंपरा जीवित ही नहीं वरन जीवंत है।

कृषि एवं इससे जुड़े अन्य श्रमप्रधान कार्यों में श्रमप्रधान लोकगीतों पर विहंगम दृष्टि डालने पर देखें तो इन्हें तीन भागों में बाँटकर देखा जा सकता है-

1. खेती के कार्य-बुआई, निदाण, लावणी के दौरान गाए जाने वाले सामूहिक गीत।

2. कुएँ से पानी खींचते हुए बारिया एवं स्यारिया द्वारा गाया जाने वाला युगलगीत तथा तालाब आदि के ताल-पायतण की सफाई, तालाब की खुदाई आदि के समय गाए जाने वाले सामूहिक लोकगीत।

3. औरतों द्वारा चक्की पीसते हुए, दही बिलोते हुए, साफ-सफाई करते हुए गाए जाने वाले एकल, युगल एवं सामूहिक लोकगीत।

आज भी पश्चिमी राजस्थान के खेतों में ऊँटों से हल चलाते हुए किसान उच्च सामूहिक स्वर 'गाज्यो-गाज्यो जेठ-असाढ कंवर तेजा रे! लगतोड़ो धर्रायो सावण-भादवों' की स्वरलहरियां गूँजती है तो जंगल में साक्षात मंगल का परिदृश्य साकार हो उठता है। उबड़-खाबड़ जमीन, एक हाथ में हल पकड़े हुए तथा दूसरे हाथ में ऊँट की रास पकड़े हुए खेत की एक सींव से दूसरी सींव तक लगातार हल चलाने के श्रम को भूलकर किसान कृषि-संस्कृति के उन्नायक पूर्वपुरुष प्रणधारी वीर तेजा को याद करता है तथा उसके कष्ट एवं संकट की गाथा गाते हुए, उसके सामने अपने संकट को सामान्य मानते हुए आनंद की अनुभूति करता है। तेजा लोक का देवता है, उसका जीवन लोगों के लिए प्रेरणा के साथ संबल एवं साहस देने वाला है। तेजा वीर था। उसने एक दु:खी तथा कमजोर महिला की करुण पुकार सुनकर उसकी सहायतार्थ दुष्टों से झगड़ा मोल लिया। प्रताड़ित एवं पीड़ित महिला लाछां गुजरी की गायों को सही-सलामत वापस लाने हेतु तेजा ने मौत से सामना रोपा। रास्ते में साँप से वचन किया हुआ वादा पूर्ण करने हेतु शरीर पर अनेकानेक घाव होने के बावजूद साँप के सामने जाकर उसका डंक झेलते हुए अपने वचनों की रक्षा की। राजस्थान का किसान अपने खेत में हळोतिया अर्थात् खेती करने का श्रीगणेश करते हुए ऐसे प्रणधारी महापुरुष को याद करता है, जिसने सत्य के मार्ग का अनुसरण किया, प्राण से अधिक प्रण को माना, अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने का साहस किया, गायों की रक्षार्थ प्राणों की बाजी लगा दी। किसान की यही इच्छा रहती है कि वह भी अपनी मेहनत की कमाई खाते हुए सत-पथ का वरण करे। इसी भाव से व्रतधारी तेजा को याद करता है।

तेजागायन इतने उच्च स्वर में होता है कि आसपास के खेतों वाले एक-दूसरे से टेर मिलाकर भी गाते हैं। तेजा गायन हो या अन्य श्रम-थकन-निवारक लोकगीत, इनके गाने की एक खास शैली है। एक व्यक्ति आगे उस गाने की एक कड़ी बोलता है, उसके पीछे दूसरे सभी लोग उसी कड़ी को सामूहिक स्वर में दोहराते हैं। जिन किसानों के पास एक ही ऊँट, बैल आदि पशु है, उनके खेत में एक ही हल जोता जा सकता है अत: वो जब तेजा गाता है तो उसके पास के खेत वाला किसान उसकी टेर से टेर मिलाता है, ऐसे करके आसपास के तीन-तीन, चार-चार खेतों के हलवाहे एक साथ तेजा गाते, काळी कळायण का इंतजार करते, अनन्त आशा के साथ अपने खेतों की बिजाई करता है। किसान को उस समय अद्भुत आनंद आता है। कविवर कृपाराम खिड़िया ने 'राजिया रा दूहा' में इस आनंद को रेखांकित किया है -

दे नासां रै दाट, छोगाळो लारै वगै।
जद रस आवै जाट, रागां-बागां राजिया।।

वस्तुत: तेजा लोकगीत का गायन हल चलाते हुए ही अधिक होता है। इस गीत का मूल कथानक भी वर्षाऋतु के आगमन से खेत की बिजाई तक ही है। बिजाई के बाद तो तेजा का लोकहितकारी रूप एवं पराक्रम वर्णित होता है। इसका प्रारंभिक भाग किसान के कृषिविषयक उपकरण, उनके सराजाम, खेत का दृश्य, बैल, बैलों का चारा, हलवाहे का भाता, किसान की भार्या, किसान की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति आदि का वर्णन है। यही कारण है कि तेजा गायन हल चलाते समय अधिकांश किसान करते हैं। आजकल रात्रिकाल में पाबूजी, देवनारायणजी आदि की फड़ की तर्ज पर तेजाजी के भी रात्रिजागरण लगने लगे हैं। सामूहिक रूप से वहाँ भी लोग मंडलियाँ बनाकर तेजागायन करते हैं। रात्रिजागरण में भी

ISSN 2581-4133

इस गायन की तर्ज तथा अंदाज वही रहता है। वहाँ गायकी महत्त्वपूर्ण नहीं होकर तेजाजी के प्रति श्रद्धा एवं लोकजीवन के प्रति सम्मान का भाव अधिक प्रभावी रूप से झलकता है।

गाँवों में सहकार की भावना को सतत रूप से जिंदा रखने के लिए भी 'राम-भणत' सहायक तत्त्व है। सहकार भाव को सार्थक करने वाली परंपरा का नाम है 'ल्हास'। उल्लास से ही शायद ल्हास शब्द बना है। ल्हास ऐसे सामूहिक श्रम का नाम है, जो दूसरे की मदद के लिए नि:शुल्क किया जाता है। गाँवों में किसी के घर में गमी हो जाए, कोई लंबी बीमारी हो जाए, ऐसी स्थिति में गाँव के पाँच-चार मौजीज व्यक्ति अपनी ओर से पहल करके पूरे गाँव से उस परिवार की मदद के लिए गुहार लगाते हैं तथा प्रत्येक घर से एक-एक आदमी नि:शुल्क उस जरूरतमंद के खेत में काम करने नियत दिवस पर आता है। पूरे गाँव के सामूहिक श्रम और उसके पीछे सहयोग की पवित्र भावना के कारण लोग खूब मेहनत से काम करते हैं। अपनी ओर से अपने मन से किसी के सहयोगार्थ उल्लास के साथ किया जाने वाला यह सामूहिक श्रम 'ल्हास' कहलाता है। ल्हास आदि के समय गाँव के सभी भणत गायक एक खेत में होते हैं। उस दिन सबकी कला एवं कंठ की परीक्षा होती है। एक-दूसरे की याददास्त एवं जानकारियों की भी स्वस्थ समीक्षा होती है। पूरे दिन एक से बढ़कर एक राममणत गाई जाती है। पूरा गाँव इन लोकगीतों पर थिरकते हुए कृषिकार्य करता है। ऐसे आयोजनों में मीठा भोजन यथा हलवा, भूनवा लापसी, घी- खीचड़ी, खीर आदि के साथ सब्जी चपाती उस खेत मालिक की तरफ से सबको विनम्र आग्रह पूर्वक खिलाई जाती है। खेत मालिक सबका हृदय से आभार करता है। गाँव के मुखियाओं की जिम्मेदारी होती है कि वे निजी संज्ञान से ऐसे कार्यों की योजना बनाकर उसकी सफल क्रियान्विति करे। कई बार किसी किसान द्वारा बड़े पैमाने पर खेती की हुई हो तथा उसकी कटाई समय पर कर पाने में समर्थ नहीं हो पाए, ऐसी स्थिति में वह किसान खुद गाँव के मुखियाओं सहित सब लोगों से एक दिन सामूहिक मदद की गुहार लगाता है तथा गाँवों में आज भी यह परंपरा जिंदा है कि लोग मदद के लिए तैयार हो जाते हैं। ऐसे अवसरों पर इन धरती पुत्रों को निस्वार्थ भाव से काम करते तथा राम भणते सुनने का सौभाग्य जिसको मिला है, उसे इन श्रमसाधकों को मन ही मन नमन करना ही पड़ा है।

'राम-भणत' का वास्तविक समय निदाण एवं लावणी में होता है। निदाण करते समय भणत का सबसे अच्छा समय माना जाता है। इसका कारण यह है कि निदाण के समय किसान-मजदूर का शरीर ढुका हुआ नहीं होकर लम्बवत रहता है तथा उसके हाथ में लंबे डंडे की कुदाल होती है, उससे खरपतवार को काटता रहता है। शरीर को मोड़ना नहीं पड़ता, नीचे झुकना नहीं पड़ता अत: स्वर साधने एवं उच्च स्वर में गाने के लिए वह स्थिति ज्यादा अनुकूल होती है। इसके विपरीत लावणी के कार्य में काम करने वाले को एकदम दुहरा होकर झुकना पड़ता है। झुके-झुके काम करना तथा उसमें गाना अपेक्षाकृत निदाण के कठिन कार्य है। इसी तरह बाजरे की फसल में सिट्टियाँ तोड़ते हुए भी झुकने की आवश्यकता नहीं होती, उस समय भी राम भणत की रुणकार ज्यादा रहती है।

इन श्रमसाधकों के विषय में लिखना एवं पढ़ना अलग बात है, इन्हें खेत में राम भणते एवं काम करते देखने का अपना अलग ही आनंद है। उस आनंद को उनके सहकार एवं सहयोग के भाव को, परस्पर समन्वय को शब्दों में बयां करना बहुत कठिन काम है। फिर भी मैंने यह सोचते हुए कोशिश की है कि आज भी युवा पीढ़ी के सत्तर से अधिक प्रतिशत लोग शायद इन गीतों एवं इनके विषय में बिल्कुल अनभिज्ञ हैं तो आने वाले समय में कहीं ये सौंदर्य एकदम खत्म ना हो जाए। हमारी युवा पीढ़ी इन गीतों के माध्यम से जीवन जीने की कला सीखे।

यद्यपि कुछ 'राम-भणत' इतनी प्रचलित एवं लोकप्रिय होती है कि उन्हें तो हर काम में तथा हरेक व्यक्ति द्वारा गाया ही जाता है। भले ही कार्य कितना ही कठिन हो तथा स्वर की उच्चता एवं लम्बी पंक्तियों को गाने में परेशानी महसूस हो, उसके बावजूद भी उन चर्चित पात्रों को तो किसान याद करता ही है। जैसे 'पाबूजी रो ब्यावलो', 'बगड़ावतों की लोकगाथा', 'ढोला-मरवण', 'आभल-खींवजी' आदि पश्चिमी राजस्थान के श्रम-थकन-निवारक गीतों के सरमौर हैं। 'राम-भणत' के लिए कोई सैद्धांतिक नियमावली या ट्रेंड भी ऐसा नहीं है कि कब तथा कौनसी भणत गाई जाए। बावजूद इसके शारीरिक अंग-संचलन, श्वास की सरलता आदि को देखते हुए परंपरा से अलग-अलग कार्य के लिए बहुतायत में बोली जाने वाली भणत लगभग जानकारी में आ ही जाती है। निदाण करने, सिट्टियाँ तोड़ने, लावणी करने, सेवण-कड़ब काटने आदि सब कार्यों में जिस तरह के शारीरिक संचलन की आवश्यकता होती है, खेतों में उसी के अनुरूप 'राम-भणत' का चयन किसानों द्वारा किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस भणत में लम्बे श्वास-संचलन की जरूरत है, बहुत ज्यादा उच्च स्वर है, लम्बी पंक्तियाँ है, ऐसी भणत निदाण तथा सिट्टियाँ तोड़ते समय बहुतायत में बोली

जाती है। इसी तरह लावणी यानी फसल कटाई करने तथा सेवण-कड़ब आदि काटने के समय कम श्वास साधना, सामान्य स्वर एवं छोटी पंक्तियों वाली भणत का चयन बहुतायत में होता है।

गाने के नाम से कई बार यह भ्रम स्वाभाविक रूप से पाठक को हो जाता है कि जब व्यक्ति गाता है तो वह अपने हाथ का काम रोक देता होगा। खेत में शरीर को दुहरा करके फसल काटते समय गाना कैसे गा सकता है? यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उनके मन में पैदा होता है। एक शहरी मित्र ने एक दिन पूछ भी लिया कि जो गाता है वह तो खड़े-खड़े गाता रहता होगा और दूसरे लोग काम करते रहते होंगे। एक मित्र ने कहा गाने वाला तो खेत में किसी खेजड़ी की छाँह में बैठकर गाता होगा तथा बाकी लोग खेत में काम करते होंगे। ये प्रश्न उन लोगों के मन में आना लाजमी है क्योंकि उन्होंने खेत के काम को तथा उसके सौंदर्य को नजदीक से देखा नहीं। यहाँ यह तथ्य स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जो व्यक्ति 'राम-भणत' की पंक्ति जिस समय गा रहा होता है, वह उस समय अपने हाथ के काम को पूर्ण स्फूर्ति के साथ संपन्न कर रहा होता है। 'राम-भणत' में हाथ का काम छोड़कर या उसे बाधित करके गाने को बहुत बुरा माना जाता है। जब एक साथ बहुत से लोग काम पर लगे हैं, उस समय भणत गाने वाला व्यक्ति यदि किसी कारण वश अँगड़ाई भी ले रहा था तो गाने की पंक्ति जैसे ही वह शुरु करता है तो सब उस गाने के बोल तथा उसकी तर्ज के साथ ताल-मेल बैठाते हुए अपने हाथों को ओर तेज चलाने लगते हैं। कुछ मस्तमौला तो ऐसे होते हैं कि नाचते-नाचते काम करते हैं। लेकिन 'राम-भणत' के लिए अपने काम को रोकने वाला सबकी आलोचना का पात्र बन जाता है और तुरंत लोग उसे टोकते हुए कहते हैं कि ''काम बिना राम भण्यां राम राजी नीं हुवै, रूस्या करै।'' लोक जीवन में गीतों का यही सार्थक विज्ञान है। पश्चिमी राजस्थान की 'राम-भणत' की समृद्ध परंपरा से परिचय करवाते हुए कतिपय भणत के उदाहरण आपके सामने प्रस्तुत हैं -

खेत में किसान-मजदूर जब भी काम शुरु करते हैं तो पहले पहल सावड़माता (अनाज की देवी) को मन ही मन प्रणाम करते हैं। उसके बाद जब 'राम-भणत' आरंभ करते हैं तो सर्वप्रथम स्वर की देवी माँ सरस्वती एवं रिद्धि-सिद्धि के दाता विनायक गणेश को याद करते हैं। मधुर एवं उच्च स्वर में प्रात:कालीन वेला में माँ सरस्वती एवं गणेश को आमंत्रित करते हुए धरती पुत्रों के भाव देखिए -

जी... भले... हे रे! सुरसत सिंवरूं रे, देवी माता सा... सारदा। सारदा... रे! ध्याऊं तो मनाऊं वो, गणपत गणेश नैं। जी... भले....हे रे! कांई तो देवै ओ, देवी माता सारदा। आछा बोलो रे! कांई तो देवै वो, गणपत गणेश। जी... भले... हे रे! सुर तो देवैली रे, देवी माता सारदा। जीओ म्हारा व्हाला रे! रिद्ध-सिद्ध देवै देव गणेश।

प्रत्येक कड़ी के प्रारंभ में 'जीओ भला रे, जीओ भलेही रे, जीओ म्हारा व्हाला रे, मीठा बोलो रे, प्यारा लागो रे, हाथ हलाओ रे, रामा भजो रे आद पदबंध' स्वर साधने के लिए सहायक हैं। साथ ही इसके द्वारा एक-दूसरे को सराहने समझाने का काम भी होता है। किसी की रागिनी मीठी है, अच्छा गा रहा है तो दूसरी कड़ी को गाने वाला उसे शाबासी देते हुए कहता है 'मीठा बोलो रे', 'थांरी बोली व्हाली रे', 'जुग-जुग जीओ रे' आदि पदबंध गाकर मूल भणत को उसी लयताल के साथ गाया जाता है। उस मूल भणत में कोई बाधा नहीं आती वरन ये बीच की टिप्पणी अंग्रेजी के शब्द कंपलेंट तथा कोम्प्लीमेंट दोनों रूपों में हमारे सामने रहती है। कुछ आलसी तथा काम से जी चुराने वाले लोग भी वहाँ होते है, उन्हें गाते-गाते टोकना, काम करने के लिए कहना यह भी इस गाने के दौरान महत्त्वपूर्ण हो जाता है 'ऊभोडा अपरोगा रे', 'हाथां नै हलाओ रे', 'हावा लूटो रे', 'काम बिना राम नाराजी रे', 'कामां रीझे रामइयो रे', 'उभोड़ा निरभागी रे' आदि पदबंधों के माध्यम से काम को स्फूर्ति से पूर्ण करने के लिए प्रेरित किया जाता है।

पश्चिमी राजस्थान के लोकजीवन में पाबूजी की इतनी मान्यता रही है कि खेत में काम करने से लेकर खेत से शाम को घर लौटते हुए ऊँटों पर सवारी करते लोग

 ISSN 2581-4133

भी पाबूजी की गाथा को उच्च स्वर में गाते हैं। रास्ते में जो भी मिलता या सुनता है वह भी टेर से टेर मिलाकर अपने आराध्य लोकदेवता को याद करता है और अपने श्रम की थकन को धता कर देता है। खेतों में काम करते हुए किसान पाबूजी के विवाह के प्रसंग को ज्यादातर गाता है। मूलत: पाबूजी के जीवन का प्रेरक प्रसंग भी कालवी घोड़ी की प्राप्ति से विवाह एवं गायों के रक्षार्थ युद्ध स्वीकारते हुए बलिदान देने की गाथा ही है। इसी गाथा को पूरे मनोयोग से खेत-खेत में गाया जाता है –

नौ मण केसर कुंडां गाळयो / दस मण गाळो गैरोड़ी गुलाल। जानीड़ा रा रंगयो मैंमद मोळिया, कोई बनड़े री रंगदयो पिचरंग पाघ।

रंगो-रंगो केसर घोड़ी री व्हाली झूल, कोई गढ़ां रै करो नी रंग रा छांटणा।

बनड़ो बणग्यो पून्यू को सो रै चांद, कोई जानीड़ा किरत्यां को झूमको.....

यह इतिहास का सच है। भारतीय राजनीतिक इतिहास और राजपूत शासन की नींव हिलाने में इस तरह के प्रसंगों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। कृपाराम खिड़िया 'राजिया रा दूहा' में इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं –

कनवज दिल्ली सकाज,
बै सांवत पखरेज बै।
रुळग्या देखो राज,
रावतण्यां बस राजिया।।

इसी कड़ी में लौकिक प्रेम-गाथाएँ ढोला-मारू एवं आभल-खिंवजी भी 'राम-भणत' के प्रिय पात्र रहे हैं । इनकी पूरी गाथा उच्च एवं मीठे स्वर में बाद दोपहर के समय गाते हैं। बगड़ावतों की गाथा भी दोपहर के बाद ही गाते हैं। इसके पीछे मानसिकता यही है कि दोपहर से पहले का दौर देवी-देवताओं को याद करने का होता है। इन लम्बी तान वाले लोकगीतों के साथ बीच-बीच में झमक करते हुए आनंद लेते हुए छोटी बहर वाले लोकगीत गाये जाते हैं –

राम भणो रे भाई बागड़ियो /
सिर पर धरियो छाबड़ियो
छाबड़ियै में टाबरियो /
टाबरियै रै टोपलो /
नाम कढ़ायो नोपलो।

संसार का यह नियम है कि 'हर व्यक्ति अपनी रुचि एवं सामर्थ्य के हिसाब से चयन करता है।' राम भगत में भी सभी लोग सब तरह की भणत नहीं गा सकते। ऐतिहासिक गाथाओं को याद रखना सबके वश की बात नहीं। अत: यहाँ जनजीवन में सहजता से ऐसी भणत भी बहुतायत में हैं, जिन्हें याद करने का कोई संकट नहीं। अपने रामईयै यानी राम को प्रात:कालीन वेला में मीठी धुन में याद करते 'राम-भणत' की एक रुणकार देखिए –

हां रे ! तूं तो भजलै म्हारा भीडू रे, रामईयो।
हां रे ओ तो हरियोड़े खेतां रो रै, रामईयो।
हां रे ओ तो ऊंचोड़े मगरै रो रै, रामईयो।
हां रे ओ तो डूंगोड़ी डैय से रै, रामईयो।
हां रे ओ तो आबू रै पाड़ा रो रै, रामईयो।
हां रे ओ तो गंगा रै घाटां रो रै, रामईयो।
हां रे ओ तो भूरोड़े भाखर रो रै, रामईयो।
हां रे ओ तो सावण रै लोरां रो रै, रामईयो।
हां रे ओ तो भादरवै भुरजां रो रै, रामईयो।
हां रे ओ तो नदियां रै तीरां रो रै, रामईयो।
हां रे ओ तो समदर री सीरां रो रै, रामईयो।

(राजस्थानी निबंध – संग्रह: नाहटा – चारण, पृष्ठ 116. मरुभोम री भणत: सोहनदान सिंढायच)

इस तरह कि भगत को याद करने में कोई परेशानी नहीं होती। प्रत्येक पंक्ति का वही उनमान रहता है। बस बीच में कोई एक या दो शब्द बदलते हैं, वे भी परिचित परिवेश के प्रचलित शब्द होते हैं। जैसे ऊपर के उदाहरण में हरियोड़े खेतां, ऊँचोड़े मगरा, डूंगोड़ी डैर्या, नदियां रै तीरां, समदर री सीरां आदि जितने नाम याद हैं बोलते जाओ। भूल गए तो रुक जाओ। कोई कथाक्रम भंग नहीं होता। कोई पूर्वापर संबंध के निर्वाह की दरकार नहीं। राजस्थानी साहित्य, भले ही वह लोक का साहित्य हो या आभिजात्य साहित्य उसमें आनुप्रासिकता एवं मोहरामेळ की प्रवृत्ति प्रधान रही है। 'राम-भणत' में भी यह प्रवृत्ति प्रबलता से निर्वाहित होती है। एक उदाहरण देखिए-

हां रे रामइयो भज ले रे भाई रे /
भज-भज लावो ले रे भाई रे।
भणियां जाओ राम नै भाई रे /
करियां जाओ काम नै भाई रे।
जोड़ी रो जवान ई भाई रे /
बाळकियो नादान ई भाई रे।
मालिक थारी मैहर रे भाई रे /

हरियो-भरियो डैर रे भाई रे।
भज मन सीता राम ई भाई रे /
रुकमण व्हालो स्याम ई भाई रे।
मालाणी रो जाट ई भाई रे /
घण बळदां रो ठाट ई भाई रे।
(वही, पृष्ठ 116)

दोपहर के बाद जैसे-जैसे दिन बीतता जाता है। शरीर पर थकान भी हावी होने लगती है। मन में अधिक से अधिक कार्य संपन्न करने की लालसा रहती है। ऐसे में समूह में से अलग-अलग सीरों पर लगे लोग यानी पांथिये काम की गति को बढ़ाने के लिए एक-दूसरे समूह में प्रतिस्पर्द्धा पैदा करने के लिए 'भणत' शुरू करते हैं। उदाहरण देखिए -

बोल भीड़ी राम नै रे /
करियां जाओ काम नै रे।
सकियो करणूं काम नै रे /
खा तो करणो काम नै रे।
स्वर बदलते हुए
रामजी राजा /
राखसी ताजा।
साथ वालो को चुनौती देते हुए
अरे! म्हारै बरोबर /
तूं नांय निभैलो।
अरे! पच मरैलो /
तूं तो थक मरेलो।
नूंत जीमास्यूं।

म्हारै भीड़्यां नैं / जीमण क्यांरो / बोल बता दे म्हारै भीड्यां नै / खांड-खोपरा थारै भीड़्यां नै / लकड़ - लापसा।

दूसरा साथी प्रबल प्रत्युत्तर देता है - **अरे म्हारै भीड्यां नैं / सक्कर सीरा।**
अरे मांय मतीरा / वै तो लाल गिरी रा।
नूंत जीमास्यूं / थाळ पुरास्यूं।

राजस्थानी लोकजीवन में कहावत प्रचलित है कि 'पाचां री लकड़ी, ऐकै रो भारो / पांचां री लात, एकै रो गारो।' मतलब यह है कि समूह में बड़ी ताकत होती है। साफ नियत एवं एक-दूसरे के प्रति सदभाव के कारण खेत में लगे सभी किसान मजदूर अधिक से अधिक कार्य संपन्न करना चाहते हैं। अत: सूर्य अस्ताचल की ओर बढ़ता है वैसे-वैसे ये लोग कार्य को और अधिक गति देने का अथक प्रयास करते हैं। दिन भर की थकन से चूर-चूर मजदूर के हाथ-पांव को गति देने का काम इस समय 'राम-भणत' की रागिनी ही कर सकती है। साथ ही यह भी मानस रहता है कि जिस व्यक्ति के खेत में काम कर रहे हैं, उसको अधिकाधिक सहयोग करने के भाव से भी काम बंद करने के समय से कुछ देर पहले पूरा समूह एक साथ अपनी पूरी ताकत से राम-भणत की रुणकार करते हुए काम करता है। समय का तकाजा देखकर ऐसे समय में अत्यंत छोटी बहर की भणत, अतीव स्फूर्ति के साथ गाई जाती है। ऐसे समय में अत्यंत उत्साहवर्द्धक स्वर में खेत गुंजायमान हो उठता है -

अरे आओ रे आघा/
काढद्यो बाघा।
दिन्न घड़ी को / मार सड़ीको ।
पांथ के तोरै /
गोडियो आयो बाग लगायो /
आम लगायो।
आम कै डाळ / हींड मंडी है।
आओ भीड़ीजी / हींडण चाला।
हींड हिंडारां / धुड़ असवारां।
अरे पातळ पेटी / बांस लपेटी /
नट की बेटी।
बांस चढैली / ख्याल करैली /
नाच करैली।
आओ भीड़ीजी / देखण चाला
राम रीझाणी। राखसी ताजा।
फोर दे बाणी / रामजी राजा /
रे दब्ब मती ना / रे जोर को धायो/
अरे भीड़ियां भेळा /
अरे थक्क मती ना।
अरे बोल सवायो।
मारस्यां ठेळा।

जहाँ तक इन श्रमप्रधान लोकगीतों के सौंदर्य तथा उसके मनोविज्ञान की बात है, इनका मूल स्वर प्रकृति एवं पर्यावरण से जुड़ा है। यह मरुवासियों के जीवन की जीवंत व्याख्याएँ हैं। किसान मजदूर के मन का विश्वास, उसकी चाहत, उसके दु:ख-दर्द, उसके रिश्ते-नाते, उसके प्रेरक पात्र एवं प्रेरक घटनाएँ आदि सबका सहज एवं सरल चित्रण इन लोकगीतों की विशेषताएँ हैं। ये समूह में गाए जाते हैं लेकिन समूह गायन नहीं होकर अनुवर्ती गायन ही है। इनमें एक व्यक्ति आगे गाता है तथा पीछे सारे लोग एक साथ उसी पंक्ति को दोहराते हैं।

ISSN 2581-4133

वर्तमान में समय की गति के साथ सब कुछ बदला-बदला सा नजर आता है। ऐसे में कृषि एवं कृषि यंत्रों में भी बदलाव आया है। मशीनी युग ने मानवीय संसाधनों को बेकार सा कर दिया है। जिस 25 बीघा के एक खेत को किसान अपने एक ऊँट से लगभग आठ दिन में जोतता था। उस खेत को ट्रेक्टर से चार घंटे में जोत दिया जाता है। ऐसे में मानव श्रम कम हुआ तो श्रम-थकन-निवारक गीतों की भी कमी आ गई। ट्रेक्टर में भी हल चलाते हुए तेजाजी की केसेट तो बजती है लेकिन मशीन एवं मनुष्य में बहुत अंतर है, वह स्पष्ट दिखता है। खेत जोतने के बाद फसलों से अनावश्यक खरपतवार हटाने का काम आज भी मानवीय संसाधनों से ही संभव है। इसी तरह फसल कटाई की भी यद्यपि मशीनें आ गई हैं लेकिन आज भी बड़े पैमाने पर फसल कटाई का कार्य हाथ से ही होता है। इस कारण निदाण एवं लावणी दो कृषिकार्य आज भी ऐसे हैं जिनमें सामूहिक मानवीय श्रम की आवश्यकता रहती है। इन कार्यों के संपादन के समय आज भी 'राम-भणत' की रुणकार सुनाई देती है। हां! धीरे-धीरे राम भणत के पारंगत गायक कम होते जा रहे हैं। युवा पीढ़ी का ध्यान इस तरफ कम है फिर भी जो खेत में काम करता है, उसे अपने शरीर की थकान से लड़ने के लिए ऐसे लोकगीतों की आवश्यकता पड़ती ही है।

नागौर जिले के कुछ गाँवों के किसानों के यहाँ परिदृश्य एकदम बदला-बदला दिखा। यहाँ जिन जमीदारों के बड़े पैमाने पर खेती की गई है, वे बड़ी संख्या में मजदूरों से अपना कृषिकार्य संपन्न करवाते हैं। खासकर फसल कटाई यानी लावणी का कार्य बड़े पैमाने पर तथा निश्चित समयावधि में संपन्न करवाना पड़ता है। इन दिनों ऐसे सामूहिक कार्यों में जाने के लिए मजदूरों द्वारा जमीदारों के सामने शर्त रखनी शुरुकर दी है कि उनके

साथ खेत में डीजे पर लोकगीतों की धुन बजती रहनी चाहिए अन्यथा वे कार्य नहीं कर सकते। खेतों में डीजे के गगनभेदी स्वर में बतजे तेजागायन, रामदेवगाथा एवं अन्य लोकगीतों के साथ थिरकते, नाचते, गाते मजदूर-किसान खेत का कार्य करते हैं। यह भी तथ्य सामने आया है कि जहाँ डीजे बजता है वहाँ और जहाँ डीजे नहीं है वहाँ, दोनों जगह पर समान संख्या में मजदूर होने के बावजूद संपन्न कार्य-परिणाम की मात्रा में बड़ा अंतर देखने को मिलता है। डीजे वाले खेत में काम अधिक होता है। इसका कारण संगीत का जादू ही है। अत: अब बड़े जमींदारों के लिए तो डीजे की व्यवस्था मजबूरी बन गई है। खैर! यह समस्या और व्ययभार अलग बात है लेकिन मूल तथ्य यह है कि आज भी श्रम की थकन से ध्यान हटाने एवं मन में उमंग का भाव जगाने के उद्देश्य से इन लोकगीतों को लोग गाते-गुनगुनाते हैं। दैनिक भास्कर, राजस्थान के नागौर संस्करण दिनांक 29.11.2014 में मुख्य पृष्ठ पर 'अजीब शर्त डीजे बजेगा तो काटेंगे फसल' शीर्षक से हाल में नागौर के रायधनु गाँव से छपी खबर इस बात को पुष्ट करती है। खबर में मजदूरों की जुबानी बताते हुए लिखा गया है कि ''जब तक डीजे नहीं बजता, उनके हाथ पांव हिलते ही नहीं हैं अत: पैसे से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है तेज संगीत'' रोज-रोज एक ही काम, एक ही धारा में बहते-बहते आदमी नीरस हो जाता है। जी-तोड़ मेहनत के कारण शारीरिक शक्ति भी क्षीण होती है, लगातार काम करते रहने से अत्यंत थकन शरीर को जकड़ लेती है, ऐसे में किसी नशे के सहारे किसान-मजदूर अपने आपको राहत प्रदान करता है। अकड़े एवं जकड़े हुए अंग-प्रत्यंग रह-रहकर उसे हताश करते हैं, ऐसी स्थिति में तेज बजता संगीत उसे अतिरिक्त उमंग तथा शक्ति प्रदान करता है, साथ ही कुछ समय के लिए थकान से ध्यान हटाने में भी सहायक सिद्ध होता है।

इन श्रमसाधकों के विषय में लिखना एवं पढ़ना अलग बात है, इन्हें खेत में राम भणते एवं काम करते देखने का अपना अलग ही आनंद है। उस आनंद को उनके सहकार एवं सहयोग के भाव को, परस्पर समन्वय को शब्दों में बयां करना बहुत कठिन काम है। फिर भी मैंने यह सोचते हुए कोशिश की है कि आज भी युवा पीढ़ी के सत्तर से अधिक प्रतिशत लोग शायद इन गीतों एवं इनके विषय में बिल्कुल अनभिज्ञ हैं तो आने वाले समय में कहीं ये सौंदर्य एकदम खत्म ना हो जाए। हमारी युवा पीढ़ी इन गीतों के माध्यम से जीवन जीने की कला सीखे। अन्त में इन धरती पुत्र श्रमसाधकों को नमन। ❑

लोक विज्ञान और स्वास्थ्य

स्वाती
स्नातकोत्तर-समाज शास्त्र,
पाटलीपुत्र विश्वविद्यालय,
पटना, बिहार

लोक विज्ञान को हम पूर्ण रूप से विज्ञान की श्रेणी में तो नहीं रख सकते हैं परंतु यह हमें सामान्य जीवन के अनुभव, मान्यताओं और विभिन्न संस्कृतियों को समझने और उसका वैश्विक तौर पर उपयोगिता बढ़ाने के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रदान करती है। यह पारंपरिक ज्ञान को आधुनिक विज्ञान से जोड़ती है। लोक विज्ञान काफी हद तक आधुनिक विज्ञान की उन्नति में एक मुख्य स्तंभ की तरह कार्य कर रही है। यह ज्ञान प्राचीन काल से ही हमारी संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है। चाहे वह औषधीय पौधों की जानकारी हो, पारंपरिक उपचार की विधियाँ या फिर स्वस्थ जीवनशैली के उपाय, लोक विज्ञान में इन सभी का समावेश होता है। यह ज्ञान स्थानीय परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार विकसित हुआ है, और इसका उपयोग उन समुदायों द्वारा किया जाता है जो चिकित्सा सुविधाओं से दूर हैं या जिनके पास आधुनिक चिकित्सा की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं। लोक विज्ञान हमें पशुपालन, कृषि, पर्यावरण, मौसम के अध्ययन की भी जानकारी प्रदान करती है। भारत की विविध सांस्कृतिक धरोहर, जिसमें आयुर्वेद, सिद्धा चिकित्सा, लोक उपचार विधियाँ और जनसामान्य के स्वास्थ्य अनुभव शामिल हैं, लोक विज्ञान और स्वास्थ्य के अध्ययन को एक अमूल्य स्रोत बनाते हैं।

प्राचीन काल की चिकित्सा प्रणालियाँ

भारत की प्राचीन चिकित्सा प्रणालियाँ स्वास्थ्य और इलाज के पारंपरिक दृष्टिकोणों को दर्शाती हैं। आयुर्वेद, भारत की सबसे पुरानी चिकित्सा प्रणाली, पाँच हजार साल पुरानी है। यह प्रणाली शरीर, मन और आत्मा के संतुलन पर आधारित है। आयुर्वेद में स्वास्थ्य को 'धातु', 'मल', 'वात', 'पित्त' और 'कफ' के संतुलन के रूप में समझा जाता है। इसका उद्देश्य रोगों की रोकथाम और स्वस्थ जीवन जीने के तरीकों पर जोर देना है। सिद्धा चिकित्सा, मुख्यतः दक्षिण भारत में प्रचलित है, आयुर्वेद के समान ही शरीर के समग्र स्वास्थ्य पर ध्यान देती है लेकिन इसमें विशेष रूप से औषधीय पौधों और उनके औषधीय गुणों पर जोर दिया जाता है। यह चिकित्सा पद्धति शरीर की उष्णता, ठंडक और नमी के संतुलन पर ध्यान देती है।

लोक चिकित्सा और परंपरागत उपचार

भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में लोक चिकित्सा और परंपरागत उपचार विधियाँ व्यापक रूप से प्रचलित हैं। ये उपचार विधियाँ अनुभवी स्थानीय समुदायों के अनुभव और पर्यावरणीय संसाधनों पर आधारित होती हैं। भारतीय जनसामान्य में विश्वास है कि प्राकृतिक औषधियों में अनेक बीमारियों का इलाज है। इनका मानना है कि प्राकृतिक औषधियों और घरेलू उपचारों से अधिकांश रोग को दूर किया जा सकता है। भारतीय पारंपरिक चिकित्सा में औषधीय पौधों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। तुलसी, नींबु, नीम, आंवला, और हल्दी जैसे पौधों का उपयोग औषधियों के रूप में किया जाता है। ये पौधे न केवल शरीर की प्रतिरक्षा प्रणाली को

 ISSN 2581-4133

मजबूत करने में सहायक होते हैं, बल्कि कई प्रकार की बीमारियों के इलाज में भी प्रभावी साबित होते हैं। लोक चिकित्सा में विभिन्न प्रकार के घरेलू उपचार विधियाँ प्रचलित हैं। इनमें ताजे फलों-फूलों का रस, विभिन्न पौधों के पत्ते का सेवन, गर्म और ठंडे सेक, और विभिन्न प्रकार के स्नान शामिल हैं। उदाहरण के लिए, पपीता का सेवन डेंगू जैसे खतरनाक रोग के उपचार में सहायक है, हल्दी का लेप जख्मों और सूजन के इलाज के लिए उपयोगी होता है, सदाबहार का पुष्प डायबिटीज के मरीज के लिए काफी असरदार है। आयुर्वेदिक पद्धतियाँ मुख्य तौर पर लोक चिकित्सा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इन पद्धतियों में विशेष रूप से औषधियों, पत्तियों और अर्कों का उपयोग किया जाता है जो आयुर्वेदिक सिद्धांतों पर आधारित होते हैं।

समाज में स्वास्थ्य मान्यताएँ और प्रथाएँ

भारतीय समाज में स्वास्थ्य से जुड़ी कई मान्यताएँ और प्रथाएँ प्रचलित हैं जो लोक विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा हैं। ये मान्यताएँ और प्रथाएँ सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों में गहराई से जुड़ी होती हैं और कई बार आधुनिक चिकित्सा के दृष्टिकोण से भिन्न होती हैं। भारत में स्वास्थ्य का आध्यात्मिक और धार्मिक दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण होता है। कई बीमारियों को आध्यात्मिक या धार्मिक कारणों से जोड़ा जाता है। बीमारियों को शाप या पाप के परिणाम के रूप में देखा जाता है, और उनका इलाज धार्मिक अनुष्ठानों और पूजा-पाठ हवन के माध्यम से किया जाता है। सामाजिक प्रथाएँ जैसे कि 'सुतिका' (प्रसव के बाद महिला की देखभाल) और 'उपवासा' (उपवासी रहना) भी स्वास्थ्य से जुड़े प्रथाओं का हिस्सा हैं। इन प्रथाओं का उद्देश्य स्वास्थ्य को बनाए रखना और बीमारियों से बचाव करना होता है।

लोक विज्ञान और स्वास्थ्य में आधुनिक योगदान

हाल के वर्षों में, लोक विज्ञान और परंपरागत स्वास्थ्य ज्ञान को आधुनिक विज्ञान और चिकित्सा के साथ जोड़ने के प्रयास किए जा रहे हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण दिशा है जो पारंपरिक ज्ञान को मान्यता देती है और उसकी प्रासंगिकता को आधुनिक संदर्भ में उभारती है। कई शोध संस्थान और विश्वविद्यालय अब पारंपरिक चिकित्सा प्रणालियों पर अनुसंधान कर रहे हैं ताकि उनके उपयोगिता और प्रभावकारिता को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझा जा सके। उदाहरण के लिए, आयुर्वेदिक औषधियों के सक्रिय संघटन और उनके चिकित्सा लाभों पर अध्ययन किए जा रहे हैं।

भारतीय सरकार ने पारंपरिक चिकित्सा प्रणालियों को मान्यता दी है और उन्हें औपचारिक स्वास्थ्य देखभाल प्रणाली में शामिल किया है। आयुष मंत्रालय (AYUSH) पारंपरिक चिकित्सा प्रणालियों के विकास और प्रचार-प्रसार के लिए जिम्मेदार है, और इसके अंतर्गत आयुर्वेद, योग, सिद्धा, और होम्योपैथी जैसे क्षेत्रों को शामिल किया गया है। लोक विज्ञान और स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता बढ़ाने के लिए सांस्कृतिक और शैक्षिक कार्यक्रम आयोजित किए जा रहे हैं। इन कार्यक्रमों का उद्देश्य पारंपरिक चिकित्सा के महत्त्व को समझाना और उसे सुरक्षित रूप से अपनाने के लिए प्रोत्साहित करना है।

लोक विज्ञान और स्वास्थ्य के क्षेत्र में परंपरागत ज्ञान भारत की सांस्कृतिक धरोहर का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। प्राचीन चिकित्सा प्रणालियों, लोक उपचार विधियों, और सामाजिक स्वास्थ्य मान्यताओं के माध्यम से, भारत ने स्वास्थ्य देखभाल के विभिन्न पहलुओं में अनूठा योगदान दिया है। आधुनिक विज्ञान और चिकित्सा के साथ पारंपरिक ज्ञान का समन्वय करना न केवल सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करने में मदद करता है, बल्कि समग्र स्वास्थ्य देखभाल के दृष्टिकोण को भी समृद्ध करता है।

चुनौतियाँ और भविष्य की दिशा

लोक विज्ञान के क्षेत्र में कई चुनौतियाँ भी हैं। सबसे बड़ी चुनौती यह है कि यह ज्ञान अधिकांशतः मौखिक रूप से ही प्रेषित होता है, जिससे इसके खो जाने का खतरा रहता है। इसके अलावा, लोक विज्ञान में दी जाने वाली जानकारियों की प्रमाणिकता पर भी सवाल उठते हैं, क्योंकि कई बार यह ज्ञान अंधविश्वासों और मिथकों पर आधारित होता है। इसके बावजूद, लोक विज्ञान के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। इसके संरक्षण और संवर्धन के लिए विभिन्न प्रयास किए जा रहे हैं। सरकार और गैर-सरकारी संगठनों द्वारा विभिन्न योजनाओं और कार्यक्रमों के माध्यम से लोक विज्ञान के ज्ञान को संरक्षित करने और उसे व्यापक रूप से प्रचारित करने के प्रयास हो रहे हैं। इसके अलावा, वैज्ञानिक अनुसंधान भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं, जिससे लोक विज्ञान में निहित तत्त्वों की वैज्ञानिक व्याख्या और प्रमाणिकता स्थापित की जा सके।

लोक विज्ञान और स्वास्थ्य के क्षेत्र में परंपरागत ज्ञान भारत की सांस्कृतिक धरोहर का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। प्राचीन चिकित्सा प्रणालियों, लोक उपचार विधियों, और सामाजिक स्वास्थ्य मान्यताओं के माध्यम से, भारत ने स्वास्थ्य देखभाल के विभिन्न पहलुओं में अनूठा योगदान दिया है। आधुनिक विज्ञान और चिकित्सा के साथ पारंपरिक ज्ञान का समन्वय करना न केवल सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करने में मदद करता है, बल्कि समग्र स्वास्थ्य देखभाल के दृष्टिकोण को भी समृद्ध करता है। भारत की पारंपरिक चिकित्सा प्रणालियों और लोक विज्ञान के ज्ञान को सुरक्षित रखना और उनका सम्मान करना, न केवल देश की सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखने में सहायक होगा, बल्कि वैश्विक स्वास्थ्य समुदाय के लिए भी महत्त्वपूर्ण योगदान देगा। ❑

भारत में लोक विज्ञान का विकास

डॉ. कृष्ण कुमार जायसवाल
सहायक प्रोफेसर,
हरित ऊर्जा प्रौद्योगिकी विभाग,
पांडिचेरी विश्वविद्यालय
(केंद्रीय विश्वविद्यालय)

लोक विज्ञान एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, जो विभिन्न संस्कृतियों, समुदायों और जनजातियों के पारंपरिक ज्ञान और अनुभवों का अध्ययन करता है जिसके द्वारा हम उन ज्ञान प्रणालियों को समझने का प्रयास करते हैं, जो मानव समाज ने विभिन्य क्षेत्र जैसे प्राकृतिक संसाधनों, कृषि, पर्यावरण, चिकित्सा और अन्य जीवन के क्षेत्रों में विकसित की हैं। लोक विज्ञान को हम विज्ञान और संस्कृति के बीच एक दर्पण या डोर कह सकते हैं जो पारंपरिक ज्ञान को आधुनिक विज्ञान के साथ जोड़ने का प्रयास करता है। इसका मुख्य उद्देश्य इन पारंपरिक पद्धतियों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषित एवं उसे संरक्षित करना है। अगर हम सांस्कृतिक दृष्टिकोण से देखे या प्राकृतिक तौर पर भारत अकेले ही कई प्रकार की विविधता को खुद में समेटे हुई है। यहाँ लोक विज्ञान का उदय एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक और वैज्ञानिक प्रवृत्ति है, जो पारंपरिक ज्ञान और आधुनिक विज्ञान के संगम का प्रतिनिधित्व करता है। भारत में लोक विज्ञान का उदय विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक कारकों से प्रेरित हुआ है। लोक विज्ञान का उदय भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों के बीच सांस्कृतिक आत्म-चेतना और पहचान के विकास में भी सहायक रहा है।

भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान, यूरोपीय वैज्ञानिक और प्रशासक भारतीय समाज और उसकी परंपराओं एवं सांस्कृतिक ज्ञान प्रणालियों में रुचि लेने लगे। उनका उद्देश्य इन पारंपरिक ज्ञान प्रणालियों को समझना, उनका दस्तावेजीकरण करना, और कई बार उन्हें अपने औपनिवेशिक हितों के अनुसार ढालना था। ब्रिटिश शासन ने भारतीय पारंपरिक चिकित्सा प्रणालियों, जैसे आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सा, साथ ही कृषि पद्धतियों और लोक विज्ञान पर ध्यान केंद्रित किया। उन्होंने इन ज्ञान प्रणालियों को 'अध्ययन' और 'शोधन' के नाम पर अपने औपनिवेशिक उद्देश्यों के लिए उपयोग किया। हालांकि, इनका अध्ययन अक्सर पश्चिमी दृष्टिकोण से किया गया, जिससे भारतीय पारंपरिक ज्ञान को अवैज्ञानिक या पिछड़ा समझा गया। औपनिवेशिक वैज्ञानिकों ने जनजातीय समाजों के ज्ञान का भी दस्तावेजीकरण किया, जिससे एथ्नोबोटनी और एथ्नोमेडिसिन के प्रारंभिक अध्ययन हुए। ये अध्ययन भारतीय जनजातियों के पारंपरिक चिकित्सा और पौधों के ज्ञान को संकलित करने पर केंद्रित थे। परंतु औपनिवेशिक काल में एथ्नोसाइंस का विकास द्विअर्थी प्रक्रिया थी, जहाँ भारतीय पारंपरिक ज्ञान का दस्तावेजीकरण तो हुआ, लेकिन उसे पश्चिमी विज्ञान की तुलना में कमतर

लोक विज्ञान को स्कूल और विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों में शामिल किया जा रहा है। इसके माध्यम से छात्रों को भारतीय पारंपरिक ज्ञान और विज्ञान के महत्त्व से अवगत कराया जा रहा है। इसके अलावा, ग्रामीण और जनजातीय समुदायों में भी जागरूकता कार्यक्रम आयोजित किए जा रहे हैं। पारंपरिक ज्ञान की सुरक्षा के लिए भारत सरकार ने बौद्धिक संपदा अधिकार (IPR) को सुदृढ़ किया है। इस प्रयास के तहत पारंपरिक ज्ञान डिजिटल लाइब्रेरी (TKDL) का निर्माण किया गया है, जिसमें पारंपरिक ज्ञान को दस्तावेजित और संरक्षित किया जा रहा है।

 ISSN 2581-4133

समझा गया। इसने बाद में स्वतंत्रता के बाद भारतीय वैज्ञानिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के लिए एक आधार तैयार किया।

स्वतंत्रता के बाद, लोक विज्ञान के विकास को सांस्कृतिक पुनरुद्धार, वैज्ञानिक अनुसंधान, और नीति निर्माण में एकीकृत करने के उद्देश्य से कई कदम उठाए गए हैं। भारत सरकार ने पारंपरिक चिकित्सा प्रणालियों जैसे आयुर्वेद, सिद्ध और यूनानी चिकित्सा के पुनरुद्धार पर जोर दिया। इसके लिए विशेष संस्थानों की स्थापना की गई, जैसे कि आयुष मंत्रालय (आयुर्वेद, योग, नेचुरोपैथी, यूनानी, सिद्ध और होम्योपैथी) का गठन हुआ। इन संस्थानों ने पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों का संरक्षण और संवर्धन किया और इन पद्धतियों को आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के साथ संयोजित करने का प्रयास किया।

एथ्नोबोटनी (वनस्पतियों का जातीय अध्ययन) और एनोमेडिसिन (औषधीय ज्ञान का जातीय अध्ययन) के क्षेत्रों में स्वतंत्रता के बाद काफी शोध कार्य हुआ है। भारतीय वन अनुसंधान संस्थान और अन्य शैक्षणिक संस्थानों ने विभिन्न जनजातियों और समुदायों द्वारा उपयोग किए जाने वाले औषधीय पौधों और अन्य वनस्पतियों का व्यापक अध्ययन किया। इस शोध के परिणामस्वरूप कई पारंपरिक औषधियों को वैज्ञानिक रूप से प्रमाणित किया गया और इनका उपयोग आधुनिक चिकित्सा में किया जाने लगा। भारत की पारंपरिक कृषि पद्धतियाँ जल संरक्षण, मिट्टी की उर्वरता बनाए रखने और जैव विविधता के संरक्षण के लिए जानी जाती हैं। स्वतंत्रता के बाद, इन पद्धतियों का पुनरुद्धार किया गया और इन्हें आधुनिक कृषि तकनीकों के साथ संयोजित करने के प्रयास किए गए। यह प्रक्रिया विशेष रूप से हरित क्रांति के दौरान और बाद में अधिक महत्त्व प्राप्त कर गई, जब सतत कृषि पद्धतियों की आवश्यकता महसूस की गई।

स्वतंत्रता के बाद के दशकों में, लोक विज्ञान को भारतीय समाज की सांस्कृतिक पहचान के साथ जोड़ा गया। पारंपरिक ज्ञान और पद्धतियों को संरक्षित करने के प्रयासों ने विशेष रूप से जनजातीय और ग्रामीण समुदायों को सशक्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन समुदायों के पारंपरिक ज्ञान को संरक्षित और प्रचारित करने के लिए विभिन्न परियोजनाएँ और कार्यक्रम शुरू किए गए, जिससे उनकी सांस्कृतिक धरोहर को संरक्षित किया जा सके। इसके के महत्त्व को समझने और इसे बढ़ावा देने के लिए शैक्षिक पाठ्यक्रमों में इसे शामिल किया गया। विश्वविद्यालयों और शैक्षणिक संस्थानों में एथ्नोबोटनी, एथ्नोमेडिसिन, और अन्य संबंधित विषयों पर पाठ्यक्रम चलाए गए, जिससे छात्रों और शोधकर्ताओं को इस क्षेत्र में योगदान करने का अवसर मिला। इसके अलावा, ग्रामीण और जनजातीय क्षेत्रों में जागरूकता कार्यक्रमों के माध्यम से पारंपरिक ज्ञान के महत्व को उजागर किया गया। लोक विज्ञान के क्षेत्र में हुई प्रगति ने भारत के सतत विकास लक्ष्यों को प्राप्त करने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। पारंपरिक ज्ञान का उपयोग प्राकृतिक संसाधनों के प्रबंधन, जल संरक्षण, और जैव विविधता के संरक्षण में किया गया है। इसके परिणामस्वरूप, लोक विज्ञान ने पर्यावरणीय संतुलन बनाए रखने और ग्रामीण क्षेत्रों आर्थिक सशक्तिकरण को बढ़ावा देने में सहायक सिद्ध हुआ है। भारत में लोक विज्ञान के क्षेत्र में हुई प्रगति ने पारंपरिक ज्ञान के महत्त्व को पुनः स्थापित किया है और इसे आधुनिक विज्ञान के साथ एकीकृत करने के प्रयासों को बढ़ावा दिया है।

हाल के वर्षों में भारत में लोक विज्ञान के क्षेत्र में कई महत्त्वपूर्ण विकास हुए हैं, भारत में आयुर्वेद, सिद्ध और यूनानी चिकित्सा प्रणालियों का वैश्विक स्तर पर प्रचार-प्रसार बढ़ा है। आयुष मंत्रालय के प्रयासों से इन पारंपरिक चिकित्सा प्रणालियों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रमाणित किया जा रहा है और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार्यता मिल रही है। इसके तहत नए शोध, पाठ्यक्रम और चिकित्सा उत्पादों का विकास किया जा रहा है। पारंपरिक कृषि पद्धतियों जैसे जैविक खेती, जल संरक्षण तकनीक, और बहु-फसली खेती को बढ़ावा देने के लिए कई सरकारी और गैर-सरकारी प्रयास किए जा रहे हैं। ये पहलें सतत कृषि और पर्यावरणीय संतुलन की दिशा में महत्त्वपूर्ण हैं। भारतीय वन अनुसंधान संस्थान और अन्य वैज्ञानिक संस्थान विभिन्न जनजातीय समुदायों के पारंपरिक ज्ञान का दस्तावेजीकरण कर रहे हैं।

विशेषकर एथ्नोबोटनी और एथ्नोमेडिसिन के क्षेत्रों में नए शोध किए जा रहे हैं, जिनसे पारंपरिक औषधियों और वनस्पतियों के वैज्ञानिक मूल्य को समझा जा रहा है। लोक विज्ञान को स्कूल और विश्वचविद्यालय के पाठ्यक्रमों में शामिल किया जा रहा है। इसके माध्यम से छात्रों को भारतीय पारंपरिक ज्ञान और विज्ञान के महत्त्व से अवगत कराया जा रहा है। इसके अलावा, ग्रामीण और जनजातीय समुदायों में भी जागरूकता कार्यक्रम आयोजित किए जा रहे हैं। पारंपरिक ज्ञान की सुरक्षा के लिए भारत सरकार ने बौद्धिक संपदा अधिकार (IPR) को सुदृढ़ किया है। इस प्रयास के तहत पारंपरिक ज्ञान डिजिटल लाइब्रेरी (TKDL) का निर्माण किया गया है, जिसमें पारंपरिक ज्ञान को दस्तावेजित और संरक्षित किया जा रहा है।

भारत में हाल के वर्षों में लोक विज्ञान का विकास पारंपरिक ज्ञान के संरक्षण और आधुनिक विज्ञान के साथ उसके संयोजन की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम है। ये विकास न केवल सांस्कृतिक धरोहर को संरक्षित करने में मददगार हैं, बल्कि सतत विकास, स्वास्थ्य और कृषि में भी नए अवसर प्रदान कर रहे हैं। ❑

शिक्षण संस्थाओं में अध्ययनरत बालक-बालिकाओं को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के साथ परम्परागत विज्ञान की शिक्षा भी प्रदान की जानी चाहिए। पूर्व की पीढ़ियों ने अपने समय में प्रकृति का पूर्ण विकास कर उनको भौतिक संपत्ति के रूप में बदलकर अगली पीढ़ियों को प्रदान किया है, और यह माना है कि आने वाली पीढ़ी उन पूर्वजों का उपकार मानेगी, लेकिन वर्तमान पीढ़ी तो भावी मानव के लिए जटिल समस्याएँ और प्रकृति के विध्वंस का आधार छोड़ कर जाने की संभावनाएँ बना रही है।

लोक-साहित्य में पर्यावरण चेतना

गोवर्धन यादव
छिन्दवाड़ा, मध्यप्रदेश

लोक-साहित्य पढ़ने-लिखने में एक शब्द है, पर वस्तुत: यह दो गहरे भावों का गठबंधन है। 'लोक' और 'साहित्य' एक दूसरे के संपूरक, एक दूसरे में संलिष्ट। जहाँ लोक होगा, वहाँ उसकी संस्कृति और साहित्य होगा। विश्व में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जहाँ लोक हो और वहाँ उसकी संस्कृति न हो।

मानव मन के उद्‌गारों व उसकी सूक्ष्मतम अनुभूतियों का सजीव चित्रण यदि कहीं मिलता है तो वह लोक-साहित्य में ही मिलता है। यदि हम लोक-साहित्य को जीवन का दर्पण कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। लोककथा को लोक-साहित्य का जनक माना जाता है और लोकगीत को काव्य की जननी। लोक-साहित्य में कल्पना प्रधान साहित्य की अपेक्षा लोकजीवन का यथार्थ सहज ही देखने को मिलता है।

लोक-साहित्य हम धरती वासियों का साहित्य है, क्योंकि हम सदैव ही अपनी मिट्टी, जलवायु तथा सांस्कृतिक संवेदना से जुड़े रहते हैं। अत: हमें जो भी उपलब्ध होता है, वह गहन अनुभूतियों तथा अभावों के कटु सत्यों पर आधारित होता है, जिसकी छाया में वह पलता और विकसित होता है। इसीलिए लोक-साहित्य हमारी सभ्यता का संरक्षक भी है।

साहित्य का केन्द्र लोक मंगल है। इसका पूरा ताना-बाना लोक हित के आधार पर खड़ा है। किसी भी देश अथवा युग का साहित्यकार इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकता। जहाँ अनिष्ट की कामना हो, वहाँ साहित्य नहीं हो सकता। वह तो प्रकृति की तरह ही सर्वजन हिताय की भावना से आगे बढ़ता है।

प्रकृति साहित्य की आत्मा है। वह अपनी मिट्टी से अपनी जमीन से जुड़े रहना भी साहित्य की अनिवार्यता समझता है। मिट्टी में सारे रचना कर्म का अमृतवास रहता है। रचनाकर उसे नए-नए रूप देकर रूपायित करता है।

जिज्ञासु व्यक्ति कुछ न कुछ सोचने की चेष्टा करता है। इस प्रकृति के साहचर्य से उसने बहुत कुछ सीखा है। उस काल के वेदज्ञ ब्राह्मण चौदह विद्याओं का अध्ययन करना अपना अभीष्ट मानते थे। सोलह कलाओं और चौदह विद्याओं के अतिरिक्त, वे संगीत, सामुद्रिक, ज्योतिष, वेदाध्ययन काव्य, भाषा शास्त्र, पशु भाषा ज्ञान, तैरना, धातु विज्ञान, रसायन, रत्न परख, चातुर्य एवं अंग विज्ञान आदि अनेक विषयों में गहरी रुचि रखते थे। इस बात के साक्षी हैं पुरातन भारतीय ग्रंथ, जो समय की सीमा को पार कर चुके हैं। भारत के संचित ज्ञान और अनुभव के पहले पुस्तकाकार स्वरूप की याद आते ही दृष्टि स्वयमेव ही वेदों की ओर चली जाती है।

वेद ज्ञान कोष के रूप में सदियों से हमारा साथ देते आए हैं। ऋग्वेद को सृष्टि विज्ञान प्रथम पुस्तक होने का गौरव प्राप्त है। वेदों की रचना के पीछे जल, अग्नि, वायु, मृदा, ये चारों तत्त्व ही प्रमुख रूप से काम करते हैं। ऋग्वेद में अग्नि के रूपान्तरण कार्य और गुणों की व्याख्या है। तो यजुर्वेद में विविध रूपों और गुण धर्मों की। सामवेद का प्रधान तत्व जल है, तो अथर्ववेद का पृथ्वी (मृदा) पर केन्द्रित है। पाँचवाँ तत्व आकाश तत्त्व है। सृष्टि की रचना करने वाले उस महान कुंभकार ने

 ISSN 2581-4133

इन्हीं पाँचों तत्त्वों की कच्ची सामग्री को मिलाकर एक ऐसी ही रचना की, जो बेजोड़ है।

हमारी धरती के अस्तित्व का जो आधार है, जिसे भारतीय मेधा ने धरती माँ कहकर अभिनन्दन के स्वर अर्पित किए ''माताभूमि: पुत्रोहं पृथिव्या''। अर्चन-अभिनन्दन के इन् स्वरों में बहुत ही सार्थक भाव-भीना स्वर है। यह वैदिक पृथ्वी समूह माँ पृथ्वी की स्तुति का पावन सूत्र, प्रकृति प्रेम की अद्भुत मिसाल. पर्यावरण विमर्श का महत्त्वपूर्ण घोषणा-पत्र, पर्यावरण प्रतिक्षा का सारस्वत अनुष्ठान और उसके संरक्षण के लिए समर्पित शिव संकल्प, आसुरी वृत्तियों के अस्वीकरण तथा दैवी वृतियों के स्वीकरण का घोषणा-पत्र है। यह पृथ्वी की समस्त निधियों के विवेक सम्मत प्रयोग का आग्रही है। यह प्रेम के लिए नहीं, श्रेय के लिए समर्पित शोध का पक्षधर है। यह सामाजिकता, मंगलमयता में लीन हो जाने का आह्वान है। आज के पर्यावरण संकट की समस्त युक्तियों का एक सूत्रीय समाधान है वेद में। बीस कांडों, इकतीस सूत्रों और पाँच हजार नौ सौ इकहतर मंत्रों का महाकोष है। व्यक्ति सुखी रहे, दीर्घायु प्राप्ति करे, सद्गति पर चले, पशु-पक्षियों, वनस्पतियों एवं जीव जगत के साथ साहचर्य से रहे, इन्हीं कामनाओं से ओत-प्रोत यह अद्भुत ग्रंथ है।

लोक चेतना तो संस्कृति और साहित्य की परिचालक शक्ति मानी जाती है। किन्तु वर्तमान मशीनी और कम्प्यूटरी समाज से लोक- चेतना शून्य होती जा रही है। आज जरूरी है कि साहित्य का मूल्यांकन लोक-जीवन, लोक- संस्कृति की दृष्टि से किया जाना चाहिए। जो लोक-साहित्य लोकजीवन से जुड़ा होता है, यह लोक-साहित्य लोक परम्परा पर आधारित होता है। अत: अपनी प्रकृति में ही विकासशील है। इसमें नित्यप्रति परिवर्तन की संभावना बनी रहती है। इसका सृजन युगपीड़ा एवं सामाजिक दवाब को भी निरन्तर महसूस करता रहता है।

लोक साहित्य में लोककथा, लोकनाटक तथा लोकगीतों को समान रूप से रखा जा सकता है जिसमें जनपदीय भाषाओं का रसपूर्ण और कोमल भावनाओं से युक्त साहित्य होता है। सभी कर्मकाण्ड, पूजा अनुष्ठान तथा उन्नत सांस्कृतिक समाज में मनुष्य के आचरण का निर्धारण इसी लोक में होता है। लोक हमारी सामाजिकता की गंगोत्री है और सभ्यता का प्रवेश द्वार भी। भारतीय जनमानस को श्रीमद्भगवद्गीता ने जितना प्रभावित किया, उतना शायद किसी अन्य पुस्तक ने नहीं किया। वैष्णवी तंत्र ने गीता की जो व्याख्या की है, उसमें प्रतीक के रूप में पशु-जीवन का महत्त्व प्रतिपादित होता है।

'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दन:'

अर्थात् उपनिषद् गाय है, कृष्ण उनको दुहने वाले हैं, अर्जुन बछड़ा है और गीता दूध है। गीता में प्रकृति को ईश्वर की माया के रूप में दर्शाया गया है। गीता के कुछ श्लोकों के अर्थ को रेखांकित किया जा सकता है।

इनमें भगवान कृष्ण कहते हैं कि जो तेज सूर्य और चन्द्रमा में है, उसे मेरा ही तेज मानो! मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके सभी भूत-प्राणियों को धारण करता हूँ। चन्द्रमा बनकर औषधियों का पोषण करता हूँ। जठराग्नि बनकर प्राणियों की देह में प्रविष्ट हूँ। प्राणवायु-अपानवायु संयुक्त होकर चारों प्रकार से भोजन किए हुए प्राणियों के अन्न को पचाता हूँ। संपूर्ण भूर्ती (प्राणियों) के हृदय में निवास करता हूँ। श्रीकृष्ण ने अपनी प्रकृति को अष्टकोणी बताया है।

इसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश के साथ-साथ मन-बुद्धि एवं अहंकार की गणना भी की गई है। अपनी बाल लीलाओं के माध्यम से उन्होंने जो दिव्य संदेश दिया, उसका व्यापक प्रभाव लोक जीवन तथा लोक परम्पराओं पर पड़ा। उस दिव्य संदेश के पीछे तात्पर्य यह था कि वनस्पति, नदियाँ, पहाड़, पशु-पक्षी, जलचर और मनुष्य सभी इस प्रकृति के अंगीभूत स्वरूप हैं और सबका रक्षण पोषण और विकास जरूरी है।

त्योहारों के इतिहास में हमारे देश की संस्कृति और सभ्यता में सारे त्योहार ऐसे हैं जो प्रकृति की गोद में और प्रकृति के संरक्षण में मनाए जाते हैं। जैसे गोवर्धन पूजा, आवंला पूजन, गंगा सप्तमी, माह कार्तिक में तुलसी पूजन आदि।

ये सभी पर्व हमें अपनी प्राकृतिकता से सह-संबंधों की परम्पराओं की याद दिलाते हैं। ऐसे पर्व जो प्रकृति के विभिन्न घटकों को पूजने के दिन के रूप में मनाए जाते हैं, उन्हीं पर्वों के अवसर पर सम्पन्न क्रिया-कलाप और समारोह प्रकृति प्रेम एवं प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता का नया वातावरण हमें प्रदान कर पर्यावरण को शुद्ध रखने के लिए उत्प्रेरित करते हैं। प्रकृति घटकों के सह-सम्बन्ध हमें नई उमंग और प्रकृति प्रेम के प्रति नए उत्साह का अनुभव कराते हैं।

विभिन्न तथ्यों एवं लोक जीवन की शैली के आधार पर निष्कर्ष में कह सकते हैं कि वृक्ष हमारी संस्कृति के विभिन्न अंग रहे हैं। भारत कृषि प्रधान देश है। अत: मृदा का संरक्षण आवश्यक है।

प्राकृतिक अवस्था में मैदानी एवं पहाड़ी स्थानों पर लगे वृक्षों की जड़ें जमीन को पकड़े रहती हैं, जिससे पानी का प्रवाह एवं हवा संतुलित रहती है। वृक्षों के अभाव में हवा एवं पानी पर नियंत्रण नहीं रहने से भूमि के रेगिस्तान में परिवर्तित होने की प्रबल संभावनाएँ बनती जा रही हैं। वनों की कटाई न करने के प्रति जन चेतना जगानी चाहिए।

शिक्षण संस्थाओं में अध्ययनरत बालक-बालिकाओं को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के साथ परम्परागत विज्ञान की शिक्षा भी प्रदान की जानी चाहिए। पूर्व की पीढ़ियों ने अपने समय में प्रकृति का पूर्ण विकास कर उनको भौतिक संपत्ति के रूप में बदलकर अगली पीढ़ियों को प्रदान किया है, और यह माना है कि आने वाली पीढ़ी उन पूर्वजों का उपकार मानेगी, लेकिन वर्तमान पीढ़ी तो भावी मानव के लिए जटिल समस्याएँ और प्रकृति के विध्वंस का आधार छोड़ कर जाने की संभावनाएँ बना रही है। ❑

National Education Policy (NEP 2020) and Experiential Learning

Dr. Dinesh Kumar Gupta

Assistant Professor,
Agrawal Mahila Teacher's Training College,
Gangapur city, Rajasthan

NEP 2020 recommends that, "in all stages, experiential learning will be adopted, including hands-on learning,arts-integrated and sports-integrated education,story-telling-based pedagogy, among others, as standard pedagogy within each subject, and with explorations of relations among different subjects. To close the gap in achievement of learning outcomes, classroom transactions will shift, towards competency-based learning and education. The assessment tools (including assessment 'as', 'of', and 'for' learning) will also be aligned with the learning outcomes, capabilities, and dispositions as specified for each subject of a given class" (NEP 2020, para 4.6).Some Indian education philosophers had also expressed their agreement towards experiential learning which helps in holistic development of children.

Mahatma Gandhi, wrote in his book Nai Talim that 'work and knowledge should go together'. Children should be taught craft (work) not mechanically but scientifically (with reason and evidence) as it would develop the intellect of the child. According to Gandhi ji, 'the brain must be educated through the hand.' Sri Aurobindo believed that learning happens best in a free and creative environment that aids and allows development of child's interest, creativity, mental, moral, and aesthetic sense. J Krishnamurthy was of the view that since the purpose of learning is to develop a questioning mind and spirit, the teacher has to free himself from mindless repetition of content and practices. Experiential learning, in very general terms, refers to acquiring knowledge through personal experiences. It is one of the most fun-filled, engaging, and effective ways to understand new concepts. This helps in moving away from rote memorization and provides children with hands on experiences.

 ISSN 2581-4133

1. Experiential Learning

• Experiential learning occurs when learners are exposed to selected experiences – such as toys, games, projects, crafts, etc., followed-up by reflection, critical analysis and synthesis. During this process learners take initiatives, make decisions and are accountable for the results.

• This process keeps learners actively engaged in posing questions, investigating, experimenting, being curious, solving problems, assuming responsibility, being creative, and constructing meaning.

• This leads to the development and nurturance of relationships - learner to self, learner to others and learner to the world at large.

• While adopting experiential learning, teachers and learners may create or innovate something or may experience failure at some stage or may learn something very new and unique. Outcomes of experience cannot be predicted totally. The design of the learning experience facilitates learning from natural consequences, mistakes and successes.

• The teacher's primary roles include creating situations for suitable experiences, posing problems, setting boundaries, supporting learners, ensuring physical and emotional safety, and facilitating the learning process.

• In this process spontaneous learning happens.

• Teachers need to be aware of their biases, judgments and pre conceptions, and how these influence the learner.

This approach to learning can be used with children as young as these of preschool age and extend well into teacher education programmes. There are many types of experiential learning methods, all of which use real-world applications to enable students to think critically about abstract concepts and derive the ability to apply them to solve real world problems. Some forms are classroom activities dialogue, discussion, group work, learning by doing, role play, drama, experiments in classroom and lab projects, independent research beyond the lab or classroom etc. This may be understood from a real case integrating toy-based pedagogy leading to experiential learning drawn from a classroom observation:

2. Benefits of Experiential Learning

Experiential Learning has immense potential for developing holistic personality of students facilitating:

• Independence, creativity and self reliance leading to development of life skills and values

• Self-criticism and self-evaluation are in-built components.

• Openness to experience and others ideas.

• Participatory approach and appreciation of diversity and inclusion .

• Inculcation of self-discipline

• A fun learning environment helping the learner to retain lessons for a longer period.

Experiential learning develops children into innovative and creative problem solvers, with the ability to collaborate with peers and others, as well as find new ways to deal with the new situations they will face. In that sense they will be future-ready, productive and active civic members of our society. To enable this to happen, we can create classrooms where experiential learning is practiced. In such a classroom you will find children excitedly engaged in challenging and purposeful tasks linked to curricular objectives, especially the higher order ones. They will address problems that are relevant to them, acquire information that matters, compare and contrast what they discover, and use their

thinking abilities to make sense of what they are learning. These experiences will provide them with an opportunity to reflect, create and apply what they are learning – and over a period become active co-creators of their own learning with support from the teacher.

3. Developmental Stages and Play Based Learning

Play comes naturally to children. Play is as vital to the children's wellbeing as eating, breathing and sleeping. Play is a path to learning and it gives boost to self-esteem. It gives space to children in which they explore and manipulate the objects in their own way. Play is a process which occurs with familiar and favourite objects which children want to explore and enables them to supply their own meanings to play activities. Play requires a child's active participation. According to Albert Einstein, "Play is the highest form of research".

Elkonin attributed the power of play to support the development of intentional, self-regulatory behaviours not only to the rules children need to follow when playing with toys, puppets or games but also to the fact that the roles children play are mostly the roles of adults (teachers, parents, doctors, drivers, chefs, and others) engaged in socially desirable behaviours. By imitating these behaviours during play, children learn to adjust their actions to meet the norms associated with the behaviours of role models, thus practicing planning, self-monitoring, and reflection essential for intentional behaviours (Elkonin 1978).

According to Vygotsky (1967), "Play is helpful in the development of language and thought. Mental structures are formed through the use of signs and tools, and play helps in this formation. Play also frees the child from the constraints of the real world that surrounds the child".

If teachers or parents use the process of play for making children learn as per targets they set for them, then this process operates under the mentorship of the adult and is termed as play-based or toy-based pedagogy. Play involves child's planning for role play (imitating teacher's role, parents' role, etc.), local games such as hide and seek, observation, construction or deconstruction of toys, or solving puzzles, etc.

This leads to physical, emotional, social, motor, cognitive and ethical development as parents and teachers provide support while mending the gaps. This relationship may be seen as follows :

1. Types of Play

Plays can broadly be categorised into six types in which children like to get engaged with:

a. Exploratory Play for Children in the Age Group of 1-5 years

Exploratory play motivates children to explore objects, toys and games, rather than playing with them – for example, touching and throwing a stuffed toy, putting a rattle or block in their mouth or looking at a monkey doll's long hands. At this stage of play, children are learning about their world through different shapes, colours, sizes and textures.

b. Cause-and-effect Play for Children in the Age Group of 2-10 years

A stage comes in children's play process, when they play with toys that need an action to produce the desired result – for example, pressing a button to play music, blowing a balloon, etc. This type of play teaches children that their actions have effects and gives them a sense of control in their play.

c. Functional Play for Children in the Age Group of 2-18 years

This is learning how to play with and use toys in the way they were designed – for example, pushing a toy cart, winding a key in a toy to make it dance, beating a drum, bringing a toy phone to the ear, throwing a ball, releasing a top from the string, etc.

d. Constructive play for Children in the Age Group of 3-18 years

This is when children build or make things. It involves working towards a goal or product – for example, completing a jigsaw puzzle, making a tower out of blocks, or drawing a picture, making a castle from the cards or sand or clay, weaving beads into a garland, etc.

e. Physical play for Children in the Age Group of 3-18 years

Physical play is the favourite play of children, when they do things like running, catching and throwing balls, climbing over each other, wrestling, rolling around and even pretending to fight. Physical play helps children develop many skills. Mostly children like this kind of play because it's fun!

These help young children

- understand the limits of their strength
- explore their changing positions in space
- find out what other children will and won't let them do
- work out social relationships

as they play roles, take turns and sort out personal boundaries.

f. Pretend play for Children in the Age Group of 3-18 years

Children naturally like to pretend. When they pretend and use their imaginations during play, they actually take a step towards their socialisation. Examples of this type of play include pretending to feed a doll, dressing up like parents or superheroes, pretending to be driving the car or whistling like traffic police or watering plants or working like a farmer in the agricultural fields, etc, Pretend play happens later in development – usually around two- three years of age in typically developing children. It's the most sophisticated form of play. There are lots of simple, everyday pretend actions a child can learn to use in pretend play, like driving a car, riding a horse or banging a drum. Once your child can do some pretend actions, you can develop their imaginative and pretend play skills by breaking the pretend play activity into steps. You can also use written or picture instructions to help your child understand what to do. You might want to make it funny – for example, try using a hair brush instead of a spoon to feed a teddy bear. You can also encourage your child to join in with a fun game of 'let's pretend'. This type of play also includes role-play. You can encourage role-play by taking your child's favourite story and getting your child and others to act it out. You can give the children costumes and suggest changes to the characters' voices and gestures. By slowly introducing new themes and gradually changing parts of the play, you can guide your child towards independent, creative, dramatic play.

2 Social Play

In addition to these six types of play described above, children also show ability to play with others which is defined as social play. Social play also follows developmental stages. The stages are outlined below.

a. Playing alone (solitary play)

This is when children play alone and independently, when they don't try to get close to other children and don't pay attention to what others are doing. In this kind of play, they use their toys and games and many times they play pretending that they are playing with someone.

All traditional toys in India are very closely associated with the concepts of Science and Technology and have great potential as educational aids in classroom teaching. Toys use more than one scientific principle and the classroom is the best place to understand these through discussions initiated by the teacher. Since paper is an inexpensive, easily available and a safe material to play with, experiments have been conducted to give the joy of learning to a child through creative use of waste paper. Children may also be motivated to create toys using clay, cloth, wood and natural fibre.

b. Playing alongside (parallel play)

Children at this stage of play start to play alongside other children, and might use the same or similar toys as those around them.

c. Playing and sharing with others (associative play)

In this stage of play, children interact with other children – giving, taking and sharing play materials. This usually starts at around three years of age in typically developing children.

d. Playing and cooperating (cooperative play)

Playing cooperatively with others includes playing games with rules, making up rules, and working together on something, like building a cubby house or making a sandcastle. Cooperative play can become quite complex and involves communication skills.

4. Toys for Children with Special Needs

Teachers and Curriculum developers need to have knowledge about specially designed toys for addressing the needs of Children with Special Needs (Divyang). Details about different types of toys useful for CWSN are given below. However, these are inclusive toys, which can be used by all the children at the appropriate stages:

a.) Cause and Effect Toys:

These toys work as stimuli (cause) to generate response (effect) from children (for example: push a button and sound will come out). Some of the more common causal toys are: shape sorters, pop-up toys, sprinklers, light-up toys, toys that make noise when squeezed, etc. These toys help promote visual motor and

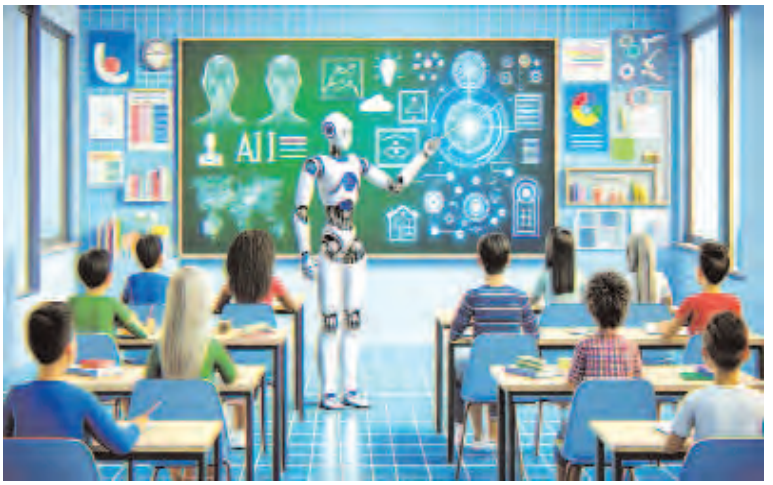

grasping skills of children with autism. Using these toys, children get an opportunity for hand eye coordination, sensory exploration and repeat sequences.

b.) Puzzles

There are various types of puzzles for children like connecting puzzles (jigsaw) where pieces fit into each other, non connecting puzzles (knobs or pegs) where pieces do not fit each other, etc. In puzzles, children have to pick up, grasp and place pieces or blocks to either complete a picture or model. Puzzles offer many developmental benefits that give children a chance to learn new skills while they work towards a goal. Puzzles also improve cognitive development as they help children learn strategy, choice and understanding of how pieces fit together to form a larger picture.

c.) Fidget Toys

These types of toys are good for children with ADD or ADHD, These toys are feasible options for children to keep their hands and fingers busy while the brain is engaged. These toys can effectively help with self-regulation, promote focus and concentration, decrease stress and provide tactile awareness. Examples of Fidget toys are play dough, squeezable balls, etc.

d.) Oral Motor Stimulators

Oral motor toys are designed to either go in or engage a child's mouth. These toys can be effective stimulators for children who crave chewing or struggle with oral motor difficulty. Chewy tubes, chewable jewellery, wooden and warbling bird whistles, blowing bubbles, are some of the examples of these types of toys.

e.) Sensory Toys

Children who suffer from sensory processing disorder are under-responsive to sensation and often need to feel intense outside sensations like texture, touch, pressure and speed. Sensory toys like light up toys, water or sand tables, finger paint, mini trampolines or personal bouncers offer a quick sensory response to help children calm down and focus their attention. It's important to make sure a child is experiencing the sensory response he/she desires. If a child craves more of or a different response, he/she may misuse a toy in order to achieve it, which may be dangerous. Selecting the right type of toys for a child's specific needs is a fun way to teach self-management techniques and learn new skills.

5. Do It Yourself (DIY) Toys

DIY is a method of creating/building/ developing things by oneself. Materials like paper, wood, cloths, clay etc. can be used for making DIY toys. In our childhood, we have experienced the joy of making drawings on paper. Today, paper is so much a part of our day-to-day life that we tend to take it for granted. It is used for a variety of purposes such as for writing, drawing and painting, making greeting cards, Origami and, of course, for printing. It is an exciting and versatile craft medium and is available in different textures and colours. Creative activities using waste paper involve the children in producing a variety of toys.

All traditional toys in India are very closely associated with the concepts of Science and Technology and have great potential as educational aids in classroom teaching. Toys use more than one scientific principle and the classroom is the best place to understand these through discussions initiated by the teacher. Since paper is an inexpensive, easily available and a safe material to play with, experiments have been conducted to give the joy of learning to a child through creative use of waste paper. Children may also be motivated to create toys using clay, cloth, wood and natural fibre. In the coastal states/UTs shells of different shapes and hues are found all along the sea coast of India. In these areas, children may be motivated to create toys made up of these shells. ❑

 ISSN 2581-4133

श्रेष्ठ शिष्य ही गुरु-दृष्टि का विस्तार

प्रकाश वया
से.नि.प्राध्यापक (हिन्दी)
भीण्डर
उदयपुर, राजस्थान

भारत की गौरव शाली संस्कृति में सनातन काल से गुरु-शिष्य के आत्म कल्याणी सम्बन्धों का दिग्दर्शन होता रहा है, असल में शिष्य गुरु की प्रतिच्छाया माना गया है, गुरु अपने ज्ञान पिपासु शिष्य की विस्तीर्ण रिक्त झोली को ज्ञानामृत से लबा लब भर देता है।

जिन खोजा तिन पाइया,
गहरे पानी पैठ।
मैं बपुरा बूडन डरा,
रहा किनारे बैठ।।

भारतीय साँस्कृतिक परम्परा में गुरु का अन्तर्कोष सागर वर गंभीरा है, उसकी थाह लेना नितान्त कठिन है, परन्तु एक सच्चा और अच्छा शिष्य आत्म कल्याणी मार्ग का साधक बनकर अपनी जिज्ञासा के बूते पर गुरु के अन्तस में विद्यमान ज्ञान वारिधि की गहराई में पैठ कर अपने प्राप्य को हासिल कर लेता है, इसके उलट जो सागर के किनारे पर बैठ कर केवल उठने-गिरने वाली लहरों को देखने में अपने जीवन को गँवा देता है। सम्यक् सोच और समझ वाला व्यक्ति उर्ध्वगामी पथ पर आरूढ़ होने के लिए प्रथम चरण में लक्ष्य का निर्धारण करता है, तदुपरान्त अपने वाँछित लक्ष्य को हाँसिल करने के लिए शरवत् तन्मयो भवेत् होकर जुट जाता है और अपनी सकल अन्तश्चेतना अपने सद्गुरु के चरणों में समर्पित कर देता है, इस अहो भाव के साथ कि -

मेरे चारों ओर अंधेरा,
भटकन जाऊँ द्वार तेरा
एक बार प्रभु हाथ थाम लो,
मन का अर्ध्य चढ़ाऊँ मैं।

गुरु चरणों में शिष्य की हाथ थाम लेने की अभ्यर्थना निश्चित रूप से उसके लिए फलदाई और शुभंकर साबित होने के साथ ही गुरु उसके अन्तस का आह्वान करता है कि विहग सुनहले सपन लिए तुम, उड़ते जाओ क्षितिज के पार। अखिल व्योम तक रहे तुम्हारी, स्वर्णिम दृष्टि का विस्तार। शिष्य के लिए गुरु स्वर्णिम जीवन दृष्टि का विस्तारक है और उसके सुनहले सपनों को पंख लगा कर उसे विहग की भांति अखिल व्योम जो कि शिष्य के लिए ज्ञानाकाश है, स्वच्छन्द और निर्बाध उड़ान भरने में समर्थ बनाकर असीम ऊँचाइयों को छूने के लिए आकांक्षित करता है। जन्म-जन्मान्तर के संचित पुण्य कर्मों की बदौलत प्राप्त दुर्लभ मानव जीवन को गुरु चरणों में उपवासिक (बैठ कर) होकर ही सार्थकता प्रदान की जा सकती है, इस अपेक्षा से गुरु हमारा तारणहार और उद्धारक है, इसीलिए आत्मार्थी शिष्य जब गुरु और भगवान को साथ खड़े देखता है तो प्रथम वंदन किसे करूँ? इस धर्म संकट के निस्तारण के लिए उसने गुरु को प्रथम वन्द्य माना क्योंकि गुरु के ज्ञान और दर्शन से ही उसे परमात्मा से मिलने का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

कबिरा ते नर अंध हैं,
गुरु को मानत और।
हरि रूठे गुरु ठौर है,
गुरु रूठे नहीं ठौर।।

कबीर ने उन लोगों को ज्ञान की अपेक्षा अंधा माना है जो अपने जीवन में गुरु की उपादेयता और महत्ता को नहीं समझ कर कृतघ्नता के भाव रखते हैं, कहा भी है कि कदाचित हमारा ईश्वर हमसे नाराज हो जावे तो गुरु की शरण लेकर उस पराशक्ति को फिर से मनाया जा सकता है, परन्तु यदि गुरु हमसे रूठ जावे तो फिर हमारे लिए कोई शरण्य नहीं । गुरु पात्र शिष्य गण के लिए जीवन दृष्टि प्रदाता है, असल में दृष्टि ही इन्सान के लिए उत्कर्ष और पतन का हेतु है, कारण है, सम्यक् दृष्टि नर देह धारी जीवात्मा ही सत्य से साक्षात्कार कर सकती है सत्य जो कि मानव पर्याय का आधारभूत तत्त्व है, सत्य सनातन है, शाश्वत है, नित्य है जिसका अभिज्ञान हुए बिना सांसारिक परिभ्रमण से विमुक्त नहीं हो सकती है। सच्चाई तो यह है कि गुरु अपने अन्तस में सतत प्रवाहिणी तरल, विरल और निर्मल ज्ञान धारा से अपने ज्ञान पिपासु शिष्य को मनसा, वाचा और कर्मणा की अपेक्षा से

परिशुद्ध कर उसके जीवन को उर्ध्वगामी बना देता है। गुरु तत्व अनिर्वचनीय होकर अद्भुत् और विलक्षण है, जिसके प्रकाश में अगणित जीवात्मा स्व और पर कल्याणी साबित हुई हैं, ऐसे उदात्त आख्यानों और कथा प्रसंगों से हमारे वेद, पुराण, आगम और पिटक भरे पड़े हैं जो कि हमारी संतति के लिए प्रेरणा दाई साबित हो रहे हैं। वे शिष्य धन्य हैं, बड़भागी है, जिन्हें सद्गुरुजनों का सान्निध्य और संसर्ग मिला, जिनमें मंगल आशीर्वाद का पाथेय उनकी जीवन यात्रा के लिए कल्याण प्रद और शुभंकर साबित हुआ। भारतीय संस्कृति में ऐसे अनेकानेक उदाहरण हैं जिनमें कई ज्ञान पिपासु शिष्य अपनी तृषा को शान्त करने के लिए सद्गुरु की तलाश में दर-दर भटकते रहे और इसके उलट ऐसे भी अप्रतिम उदाहरण हैं कि गुरु भी पात्र और योग्य शिष्यों की तलाश में लगे रहे, ये हमारी गुरु शिष्य परम्परा की विलक्षणता और विचक्षणता को परिभाषित कर रहे हैं। अनुभूत सत्य है कि गुरु एक अमृत कलश है, जिसमें रहे हुए अमृत को छक कर शिष्य अपनी आत्मिक शक्ति को जाग्रत कर सकता है, अपने वास्तविक स्वरूप को पहचाने बिना हमारा उर्ध्वगामी होना सम्भव नहीं है। सिक्खों के आदि गुरु नानक देव ने ईश्वर तत्त्व का निरूपण इस रूप में किया है -

काहे रे वन खोजन जाइ,
सरब निवासी सदा अलेपा,
तोहि संग समाइ
जैसे पुष्प मध्य बास बसत है,
मुकुर मह जस छांई
तैसे ही हर बसे निरन्तर,
घट ही खोजो भाई
बाहर भीतर एकै जानो,
यह गुरु ज्ञान बताई
जन नानक बिन आपा
चिह्न मिटे न भ्रम की कांई।

असल में सद्गुरु का ज्ञान हमारे अन्तस में विद्यमान भ्रम औरदैत को मिटा देता है जब उनकी कृपा का वर्षण हम पर होता है। गुरु की महिमा अपरम्पार है, वर्णनातीत है, कालातीत है और अनिवर्चनीय है।

सत गुरु की महिमा अनंत,
अनन्त किया उपकार।
लोचन अनन्त उघाड़िया,
अनन्त दिखावन हार।।

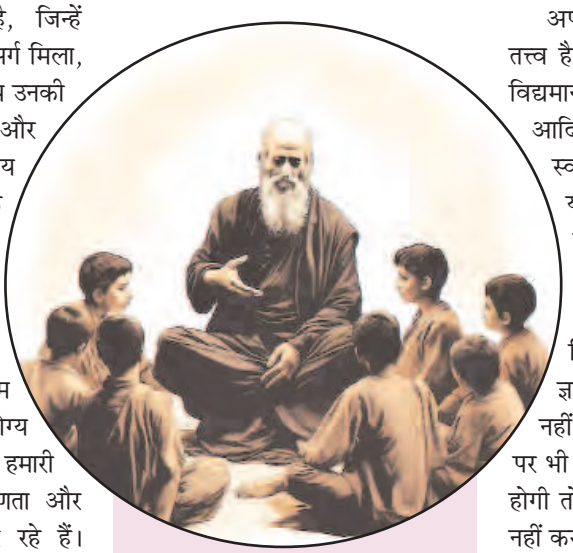

शिक्षा व्यक्ति के लिए साधन भी है तो साध्य भी, जब शिक्षा का लक्ष्य जीविकोपार्जन होता है तो वह साधन है तथा जबवह जीवन निर्माण की ओर अभिमुख होती है व साध्य बन जाती है, इस अपेक्षा से हमारे बालकों में शिक्षा जीविकोपार्जन के साथ साथ हमारे शाश्वत जीवन मूल्यों का आरोपण करें तभी जाकर सुन्दर, स्वस्थ और सुघड़ समाज की संरचना सम्भव हो सकेंगी, इसके लिए उसको भारत की माटी से जोड़ना पड़ेगा।

सच्चाई यह है कि ज्ञानालोक से आप्लावित सद्गुरु की महिमा असीमित है, अपार है, गुरु अपने श्रद्धावान शिष्य के ज्ञान चक्षु को उद्घाटित कर उसे परम तत्त्व से साक्षात्कार करा देने का महनीय कार्य कर उपकृत करता है। गुरु कौन? जिससे प्रकाश मिले, सही मार्ग दिखाई दे, अपने कर्तव्य का भान हो जाए।

अपना लक्ष्य दीख जाए वह असल गुरु तत्त्व है और यह गुरु तत्त्व सबके भीतर विद्यमान है। गुरु तत्त्व जिस व्यक्ति, शास्त्र आदि से प्रकृष्ट हो जावे उसे अपना गुरु स्वीकार कर लेना चाहिए और सच्चाई यह है कि भगवान और गुरु एक दूसरे को पर्याय हैं, पूरक हैं।

गुरु शिष्य के सम्बन्धों पर विचार करें तो केवल किसी का शिष्य बनने पर गुरु के उपदेश से ज्ञान प्राप्त हो जाएगा, ऐसा सम्भव नहीं है, कारण कि उपदेश प्राप्त करने पर भी शिष्य की जिज्ञासा और लगन नहीं होगी तो शिष्य गुरु के उपदेशों को धारण नहीं कर सकता, परन्तु तीव्र जिज्ञासा, श्रद्धा विश्वास होने पर मनुष्य बिना किसी सम्बन्ध के उपदेश को ग्रहण कर लेता है श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।। इसका सीधा अर्थ है कि ज्ञान प्राप्ति स्वयं की जिज्ञासा और लगन से ही होती है, गुरु बनाने मात्र से नहीं।

स्पष्ट है कि किसी को सद्गुरु मिल भी जाए और शिष्य उनको अपना गुरु और महात्मा मानेगा और उन पर श्रद्धा-विश्वास करेगा तभी उसको ज्ञान की प्राप्ति होगी अन्यथा साक्षात भगवान भी उसका कल्याण नहीं कर सकते।

सम्प्रति गुरु शिक्षा जगत में शिक्षक आचार्य, अध्यापक और मास्टर के रूप में खड़ा दिखाई देता है, सच्चाई तो यह है कि शिक्षक समाज का देदीप्यमान चिराग है, जिसके आलोक में व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र की अस्ति-नास्ति निर्भर करती है। एक सभ्य और सुसंस्कृत सामाजिक संरचना के लिए शिक्षा (ज्ञान) का ढाँचा

सम्यक होना नितान्त आवश्यक है, शैक्षिक प्रबन्धन में शिक्षक की भूमिका अतिशय महत्त्वपूर्ण होकर निर्णायक होती है। इस अपेक्षा से शिक्षक का स्वाध्यायी होना नितान्त आवश्यक है अन्यथा वो एक पेशेवर कर्मचारी होकर रह जाएगा। एक ईमानदार और कर्तव्यनिष्ठ शिक्षक के अन्तस में अपने शिक्षार्थियों को देने के लिए समृद्ध, अनुभव निष्ठ निर्दोष कोष होना चाहिए तभी जाकर वो शिक्षार्थियों के फलदाई और शुभंकर साबित हो सकता है।

सच्चाई यह भी है कि शिक्षक मनसा, वाचा और कर्मणा की अपेक्षा से शुद्ध, बुद्ध और प्रबुद्ध होना चाहिए उसका उज्वल और आदर्श चरित्र शिष्य के लिए प्रकाश स्तम्भ की तरह होता है। जिसके आलोक में वो अपनी जीवन यात्रा के लिए मंगल पाथेय प्राप्त कर लेता है। देखा जाए तो एक स्वाभिमानी, स्वाध्यायी और संवेदनशील शिक्षक ही एक सच्चे और अच्छे शिक्षक की गुरुतर भूमिका निर्वहन करने में समर्थ हो सकता है और ऐसा शिक्षक ही अनेक मानवीय गुणों का धारक, ज्ञान प्रदाता और शिक्षार्थियों का भाग्य विधाता होकर उनके भविष्य का नियामक होता है। ऐसा शिक्षक ही अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में गर्वानुभूति कर सकता है कि –

बुझने का मुझे कुछ दुःख नहीं,
पथ सैंकड़ों को दिखा चुका हूँ।

वस्तुतः अज्ञानता मनुष्य के लिए सबसे बड़ा अभिशाप है, भारतीय संस्कृति के महान पुरोधा स्वामी विवेकानन्द जी ने अज्ञानता के लिए जो कुछ कहा है दृष्टव्य है, अपने चारों ओर जो अशुभ तथा क्लेश देखते हैं, उन सबका केवल एक मूल कारण है – अज्ञान। मनुष्य को ज्ञानालोक दो, उसे पवित्र और आध्यात्मिक बल सम्पन्न करो और शिक्षित बनाओ! तभी संसार के दुःख का अन्त हो पाएगा, अन्यथा नहीं! सा विद्या या विमुक्तये। अध्यात्म नय से विद्या यानी ज्ञानालोक ही संचित पुण्य कर्मों की बदौलत प्राप्त दुर्लभ मानव जीवन को इस संसार सागर से उबारने वाला है। इस अपेक्षा से देखा जाय तो शिक्षक (गुरु) समाज का दीपक है, इस सच्चाई के सापेक्ष विचार करें तो शिक्षक ही शिक्षार्थी के अन्तर्तम को तिरोहित कर ज्ञानालोक से आप्लावित कर सकता है।

भारत की यह पावन धरा ऋषि महर्षियों की तपो भूमि रही है, संत महात्माओं और महान आचार्यों के चिन्तन-मनन से ज्ञान की पावन मंदाकिनी का प्रवहण हुआ है जो कि हमारे लिए सार्वकालिक और सार्व भौमिक वरदान साबित हुआ है, जिसका लाभ अन्ततोगत्वा सकल मानव जाति को मिला है। हम बड़भागी हैं कि हमें चिरन्तन गौरवशाली साँस्कृतिक परम्पराएँ विरासत में मिली हैं जिनका लोहा सारी दुनिया ने माना है और सच्चाई यह भी है कि दुनिया भर के ज्ञान पिपासुओं ने इस पुण्य धरा पर आकर अपनी बौद्धिक और आत्मिक तृषा को शांत कर विलक्षण आत्म तोष प्राप्त किया है। आज आवश्यकता है हमारे गौरवशाली अतीत को पहचानने की, उसकी शीतल छाँव में बैठकर ही हम वर्तमान शैक्षिक ढ़ाँचें का परिष्कार और परिशोधन कर सकते हैं जो कि समय की माँग है।

शिक्षा व्यक्ति के लिए साधन भी है तो साध्य भी, जब शिक्षा का लक्ष्य जीविकोपार्जन होता है तो वह साधन है तथा जब वह जीवन निर्माण की ओर अभिमुख होती है व साध्य बन जाती है, इस अपेक्षा से हमारे बालकों में शिक्षा जीविकोपार्जन के साथ साथ हमारे शाश्वत जीवन मूल्यों का आरोपण करे! तभी जाकर सुन्दर, स्वस्थ और सुघड़ समाज की संरचना सम्भव हो सकेगी, इसके लिए उसको भारत की माटी से जोड़ना पड़ेगा।

शिक्षक शिक्षा का नियंता है, प्रदाता है इसलिए उसका जीवन पारदर्शी होना चाहिए क्योंकि वो बालक का आईकॉन (आदर्श) होता है, वह अपनी जीवन शैली और चर्या से बालक के अन्तस में मानवीय जीवन मूल्यों का आरोपण सहजता में कर सकने में समर्थ है। सच्चाई तो यह है कि शिक्षक केवल एक वेतन भोगी कर्मचारी नहीं होकर गुरु जैसे गुरुतर और महनीय दायित्व का धारक है।

हमारा बालक परिस्थितिजन्य चुनौतियों, समस्याओं और कठिनाईयों का मुकाबला करने में सक्षम और समर्थ बने ऐसी शिक्षा देकर ही उसे हम स्वयं के लिए, परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए शुभंकर और फलदायी बना सकते हैं। विडम्बना आज यह भी है कि शिक्षा का व्यावसायीकरण धड़ल्ले से हो रहा है, शिक्षा पूँजीपतियों के हाथों में जाती हुई लग रही है, असल में वह बिकाऊ माल हो गई हैं। पैसा फेंको और तमाशा देखो! जैसा मुहावरा डिग्रियाँ प्राप्त करने की अपेक्षा से सार्थक होता दिख रहा है, जो कि चिन्ता और चिन्तन का विषय है। सच्चाई तो यह भी है कि शिक्षा के पावन मन्दिर आज व्यावसायिक प्रतिष्ठान बन गये हैं, जो कि शैक्षिक गुणवत्ता पर प्रश्न चिह्न लगा रहे हैं, जब पैसा सर पर चढ़ कर बोल रहा है तो फिर गुणवत्ता का मानक क्या होगा ? विचारणीय है। वास्तविकता यह है कि परिवार, समाज और राष्ट्र की अनमोल धरोहर जो हमारा भविष्य है, में मानवीय मूल्यों का आरोपण शिक्षा के माध्यम से होना चाहिए और वास्तव में यही गुणवत्ता पूर्ण शिक्षा है, इस तथ्य और सत्य के सापेक्ष शिक्षा के समग्र ढाँचे को खंगालने की आवश्यकता है। सबसे पहली आवश्यकता है कि हमारी शिक्षा इस देश की माटी से जुड़नी चाहिए ताकि हमारी संतति हमारे गौरवशाली अतीत और सनातन परम्पराएँ, जिन्होंने हमारा सांस्कृतिक पोषण किया है, के बारे में जान सकें और जिसके प्रति उसे गौरवानुभूति करने के साथ ही वे यह समझ सके कि पाश्चात्य संस्कृति के झंडाबरदारों ने किस तरह से छलने का काम कर हमारे अस्तित्व को, पहचान को मिटाने का प्रयास किया और किसी हद तक उनके मानस पुत्र आज भी कर रहे हैं। उनसे सावधान हो सके। ❑

शैक्षिक मंथन (मासिक)
प्रकाशन तिथि : 1 सितम्बर 2024
प्रेषण दिनांक : 7 सितम्बर 2024, सी.एस.ओ. गाँधीनगर, जयपुर
पंजीयन क्र. : आर.एन.आई. राजबिल/2008/26080
डाक पंजीयन क्र. : आई.आर./जयपुर सिटी/434/2024-26

सत्यमेव जयते
राजस्थान सरकार

श्री नरेन्द्र मोदी
माननीय प्रधानमंत्री

बजट में रखा हर वर्ग का ध्यान
प्रगति पथ पर राजस्थान

श्री भजनलाल शर्मा
माननीय मुख्यमंत्री

माननीय प्रधानमंत्री जी के नेतृत्व में राजस्थान सरकार ने बजट के माध्यम से जनता से किये गये वादों को धरातल पर लाने का कार्य शुरू किया

राजस्थान संवाद

आपणो अग्रणी राजस्थान

सूचना एवं जनसंपर्क विभाग, राजस्थान

कृपया अवितरित होने पर लौटावें :
प्रकाशकीय कार्यालय
शैक्षिक मंथन
82, पटेल कॉलोनी,
सरदार पटेल मार्ग, जयपुर - 302 001

प्रकाशक, मुद्रक - महेन्द्र कपूर, स्वत्वाधिकारी
शैक्षिक मंथन संस्थान द्वारा प्रीमियर प्रिंटिंग प्रेस,
प्लॉट नं. 12, रामनगर, सोडाला, जयपुर से मुद्रित।
सम्पादक - डॉ. शिवशरण कौशिक